शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जुलाई : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, आषाढ़, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : ३

आनन्दजननी वैराग्यभावना

अहो! अडोल दिगम्बर वृत्ति को धारण करनेवाले, वन में वास करनेवाले और चिदानन्दस्वरूप आत्मा में डोलनेवाले, मुनिवर जो छठवें-सातवें गुणस्थान में आत्मा के अमृत-कुंड में झूलते हैं उनका अवतार सफल है... ऐसे संत-मुनिवर भी बारह भावनाएँ भाकर वस्तुस्वरूप का चिंतवन करते हैं। वस्तुस्वरूप को लक्ष में रखकर वैराग्य की यह बारह भावनाएँ भाने योग्य हैं। इन भावनाओं को आनन्द की जननी कहा है; क्योंकि वस्तुस्वरूप के अनुसार वैराग्य की भावनाओं का चिंतवन करने से चित्त की स्थिरता होकर भव्य जीव को आनन्द होता है; इसलिये यह भावनाएँ "भविकजन आनन्द जननी" हैं, और इन्हें सुनते ही भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में उत्साह उत्पन्न होता है। अहा, तीर्थंकर भी दीक्षा के समय जिनका चिंतवन करें—ऐसी वैराग्यरस में झूलती हुई यह बारह भावनाएँ भाते हुए किस भव्य को आनन्द नहीं होगा? और किस भव्य को मोक्षमार्ग का उत्साह जागृत नहीं होगा??

[—द्वादशानुप्रेक्षा प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१७१]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्तपूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय-प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधारसहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० करीब, मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मँगानेवालों को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टीका कमीशन और १० पुस्तक से कम मँगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता:—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

छप गया!! शीघ्र ही मँगाइये!! छप गया!!!

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत

जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।

मूल्य ४॥)

पता - (१) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
(२) श्री महेन्द्रकुमार सेठी
ठि० ६२ धनजी स्ट्रीट, मुंबई नं० ३

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जुलाई : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, आषाढ़, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : ३

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[४४]

सम्प्रदानशक्ति

[गतांक नं० १६९ से आगे]

[सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक संत मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात साधक संत भगवान की भक्ति के लिये मैं क्या-क्या करूँ??किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ! किसप्रकार इन्हें अर्पणता दूँ!—इसप्रकार धर्मात्मा का हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाता है। और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसंग बने, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया... इसप्रकार अपार भक्तिपूर्वक मुनि को आहारदान देते हैं। किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि को तथा देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा को अंतर में सम्यक् भान वर्तता है कि हमारा ज्ञायक आत्मा इस आहार का लेने या देनेवाला नहीं है। तथा निर्दोष आहार लेने या देने की शुभवृत्ति होती है, उसका भी देनेवाला या पात्र हमारा आत्मा नहीं है। हमारा ज्ञायक आत्मा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावों का ही देनेवाला है और उसी के हम पात्र हैं।]

कर्ता, कर्म और करणशक्ति का वर्णन किया; अब आत्मा की सम्प्रदानशक्ति बतलाते हैं। 'अपने से दिया जानेवाला जो भाव, उसके उपेयपनेमय सम्प्रदानशक्ति आत्मा में है।' आत्मा को 'ज्ञानस्वरूप' कहकर उसकी पहिचान कराई है, तथापि उसमें अनंत शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि अपने भाव को स्वयं ही झेलता है; निर्मलभाव प्रगट करके स्वयं अपने को ही देता है। द्रव्यस्वभाव में से दिये जानेवाले केवलज्ञानादि निर्मलभाव को झेलकर अपने में ही रखने की आत्मा की शक्ति है। जैसे लोक व्यवहार में कुम्हार घड़ा बनाकर राजा को दे तो वहाँ राजा उस घड़े का सम्प्रदान कहा जाता है; उसीप्रकार आत्मा की निर्मल पर्याय का सम्प्रदान आत्मा स्वयं ही है; आत्मा स्वयं ही उसे अंगीकार करता है। आत्मा अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करके किसी अन्य को नहीं देता किन्तु अपने में ही रखता है; स्वयं अपने को ही निर्मल पर्याय का दान देता है;—ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है।

चिदानन्द आत्मा दातार होकर निर्मल पर्याय-सम्यग्दर्शनादि का दान दे, उस दान को लेने की आत्मा की पात्रता है; किन्तु राग को या पर को ले—ऐसी पात्रता आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सम्यग्दर्शनादि भावों का स्वयं ही देनेवाला और स्वयं ही लेनेवाला है—ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है। आत्मा अपनी वस्तु किसी अन्य को नहीं देता और अन्य की वस्तु स्वयं नहीं लेता। आत्मा में आहार ग्रहण करने की पात्रता है—ऐसा नहीं कहा, किन्तु स्वयं अपने से दिये जानेवाले निर्मलभाव को ही लेने की पात्रता है—ऐसा कहा है। आहार तो जड़ परमाणुओं से बना है, वह कहीं आत्मा से दिया गया भाव नहीं है और उसे ग्रहण कर सके—ऐसी पात्रता आत्मा में नहीं है। आत्मा में ऐसी पात्रता है कि निर्मलभाव ही उसमें रहता है; विकार को या पर को ग्रहण करने की पात्रता आत्मा के स्वभाव में नहीं है। जहाँ स्वभावदृष्टि की, वहाँ धर्मी जीव को ऐसी पात्रता प्रगट हुई कि अपने स्वभाव में से दिये जानेवाले निर्मल भाव को ही वह उपेयरूप से स्वीकार करता है, रागादि को उपेयरूप से अपने में ग्रहण नहीं करता। मैं देनेवाला और दूसरा लेनेवाला, अथवा मैं लेनेवाला और दूसरा देनेवाला—ऐसा धर्मी नहीं मानते। मैं ही देनेवाला और मैं ही लेनेवाला—काहे का?—तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों का।—इसप्रकार धर्मी अपने आत्मा को ही अपने सम्प्रदानरूप से जानता है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक संत-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक

संत-भगवान के लिये मैं क्या-क्या करूँ!! किसप्रकार उनकी सेवा करूँ!! किसप्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ!!—इसप्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछल पड़ता है। और जहाँ ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ तो मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया!—इसप्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं। किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि को तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा को अंतर में दृष्टि (-श्रद्धा) कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनों के अंतर में ऐसा सम्यक्भान वर्तता है कि हमारा ज्ञायक आत्मा इस आहार का देने या लेनेवाला नहीं है; तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है; हमारा ज्ञायक आत्मा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावों का ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं। इसप्रकार हमारा आत्मा ही हमारा दाता और आत्मा ही सम्प्रदान है।—ऐसी अंतर्दृष्टि दोनों को वर्तती है, उसी की सच्ची महिमा है। ऐसी अन्तर्दृष्टि के बिना मात्र शुभराग से आहारदान दे या ले, उसकी मोक्षमार्ग में कोई गिनती नहीं है। महात्मा मुनि और धर्मात्मा सम्यक्त्वी दोनों प्रतिक्षण अंतर्दृष्टि द्वारा अपने स्वभाव में से निर्मल पर्याय का दान देते हैं और स्वयं ही पात्र होकर उसे लेते हैं;—ऐसा दान, मोक्ष का कारण है और धर्म है। आत्मा, पर का या विकार का देने-लेनेवाला है—ऐसा जो मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव तो व्यवहार में भी 'कुपात्र' माना जाता है।

मुनियों को या धर्मात्मा श्रावकों को आहारदान देने का भाव तो शुभराग है, वह पुण्यास्रव का कारण है; और उसमें दाता-पात्र-दान तथा विधि, यह चारों भिन्न-भिन्न हैं। सम्यक्त्वी गृहस्थ दाता है, मुनि उत्तम पात्र है, अपनी आहारादि वस्तुओं का देना, वह दान है और नवधाभक्ति आदि विधि है। और यहाँ आत्मा स्वयं ही दान का दाता होकर अपने को ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दान देता है; स्वयं अपने को अतीन्द्रिय आनन्दरूपी आहार देता है, वह धर्म है, वह मोक्ष का कारण है और उसमें दात-पात्र-दान तथा विधि यह चारों अभेद हैं। भगवान आत्मा स्वयं दाता है, उस दाता द्वारा दी जानेवाली रत्नत्रय पर्याय को लेनेवाला पात्र भी स्वयं ही है; देने योग्य जो निर्मल पर्याय, वह भी अपने से अभिन्न है और अपने में एकाग्रतारूप विधि द्वारा स्वयं वह दान देता है; इसलिये उसकी विधि भी अपने में ही है। जो आत्मा के ऐसे सम्प्रदान स्वभाव को जान ले, उसमें ऐसी पात्रता प्रगट होती है कि अपने स्वभाव के पास से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दान लेता

है। अपने स्वभाव द्वारा दिया जानेवाला ऐसा दान लेने का ही आत्मा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बाह्य में आहार देने-लेने की क्रिया तो परमाणुओं के परिवर्तन के नियमानुसार होती रहती है और उस-उस समय की भूमिकानुसार उस-उस प्रकार का शुभभाव भी धर्मी को आता है; किन्तु धर्मी अपने को उस राग का या आहार का सम्प्रदान नहीं मानता, वह तो सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों के सम्प्रदानरूप से ही परिणमित होता है और वही धर्म है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा के भान बिना आहार की क्रिया को तथा राग को आत्मा का स्वरूप मानकर, शुभभाव से आहार दे तो वहाँ मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध होता है; उससे परित-संसार नहीं होता किन्तु जुगलिया भोगभूमि में अवतार होता है। यहाँ तो उस धर्म की बात है जिससे संसार का अंत होकर मोक्ष प्राप्त हो। अज्ञानी क्षण-क्षण में (पर्याय-पर्याय में) अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्यात्वभाव से विकार को ही प्राप्त करता है; धर्मात्मा ज्ञानी तो अपने स्वभाव को पहिचानकर उसमें से क्षण-क्षण पर्याय-पर्याय में निर्मलभाव को ही लेता है। निर्मल पर्याय को देने की तथा उसी को लेने की आत्मा की सम्प्रदान शक्ति है; परवस्तु का कुछ भी लेने या पर को कुछ देने की शक्ति आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में नहीं है। तथा राग का देनेवाला या लेनेवाला भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में क्षणिक रागादि होते हैं, उन्हीं को ग्रहण करनेवाला जो अपने का माने, वह अपने सम्प्रदान स्वभाव को नहीं जानता है। भाई, तेरा स्वभाव परिणमित होकर तुझे केवलज्ञान प्रदान करे और तू उसे ले—ऐसा सम्प्रदान की शक्तिवाला तेरा आत्मा है। अज्ञानी ने अपने आत्मा को ऐसा माना है कि मानो वह राग का ही पात्र हो! उसे समझाते हैं कि अरे भगवान! तेरे आत्मा में तो ऐसी शक्ति है कि राग को तोड़कर स्वयं केवलज्ञान का पात्र हो...उसे पहिचान।

जैसे—किसी निर्धन मनुष्य को बड़ा भारी राज्य मिलने का प्रसंग आ जाये और उस समय वह कहे कि 'अरे! हम तो गरीब आदमी हैं, हममें राज्य लेने या राजा बनने की पात्रता कहाँ से हो सकती है?'—तो वह पुण्यहीन है। और जो पुण्यवान है, वह तो तुरन्त स्वीकार करेगा कि हम राजा होने के योग्य हैं; हम अपनी शक्ति से राज्य का संचालन करेंगे। उसी प्रकार यहाँ निर्धन अर्थात अज्ञानी जीव को आचार्यदेव उसका चैतन्य राज्य प्राप्त होने की बात सुनाते हैं कि 'अरे जीव! तुझमें केवलज्ञान पद का सम्प्रदान होने की शक्ति है; ज्ञान साम्राज्य को प्राप्त करके उसे सँभालने की तेरी शक्ति है।' वहाँ जो ऐसा कहे कि अरे! हम तो अज्ञानी पाप में डूबे हुए हैं, हममें केवलज्ञान लेने या परमात्मा होने की पात्रता कहाँ से हो सकती है?—तो वह जीव पुरुषार्थहीन है। और जो

पुरुषार्थवान है—आत्मा का उल्लासी है, वह तो इस बात को सुनकर तुरन्त स्वीकार करता है कि अहो! हमारा आत्मा केवलज्ञान के योग्य है, हमारी पर्याय में केवलज्ञान साम्राज्य प्राप्त करने की शक्ति है; हम अपनी शक्ति से केवलज्ञान लेंगे।—इसप्रकार आत्मस्वभाव का विश्वास करके, उसमें लीन होकर धर्मी अपने आत्मा को केवलज्ञानादि सम्प्रदानरूप से परिणमित करता है। समस्त जीवों में ऐसी शक्ति है; जो उसे स्वीकार करता है, उसका तद्रूप परिणमन होता है—'सर्व जीव हैं सिद्धसम जो समझे सो होय' की भाँति।

यह बात तो उस जीव की समझ में आ सकती है जिसे किसी भी प्रकार आत्मा का हित करना है। चाहे जितना उच्च प्रकार का भोजन हो, किन्तु जिसे भूख न लगी हो, उसे वह कैसे भायेगा? जिसे भूख लगी हो, उसी को भा सकता है। उसी प्रकार जिसे भव से थककर आत्मा की भूख नहीं लगी है, उसे तो आत्मा के आनन्द की अपूर्व बात सुनने-समझने में भी रसप्रद नहीं लगती; किन्तु जो जीव भवदु:ख से थक गया है कि अरे रे! यह आत्मा वह भवदु:ख से छूटकर चैतन्य की शांति कब प्राप्त करेगा!! इसप्रकार जिसे आत्मशांति की तीव्र भूख लगी है, वह तो अपूर्व रुचि से श्रवण करके अवश्य यह बात समझ जाता है और इसे समझने से जरूर उसके भव की थकान उतर जाती है; जरूर उसकी भूख भग जाती है और आत्मा की अपूर्व शांति का अनुभव होता है। जिसे भव की थकान लगी हो और आत्मा के सुख की भूख जागृत हुई हो, उस भूखे के लिये यह मिष्टान्न है; इस मिष्टान्न से अनन्त भव की भूख भग जाती है और अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मा में ऐसी सम्प्रदानशक्ति है कि वह स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है। आत्मा दाता होकर क्या देता है? जो उसके स्वभाव में हो, वही देता है। आत्मा के स्वभाव में कहीं विकार नहीं भरा है कि वह विकार को दे। आत्मा के स्वभाव में तो ज्ञान-आनन्द ही भरा है; इसलिये वह ज्ञान-आनन्द का ही देनेवाला है और आत्मा स्वयं ही उसका लेनेवाला है। संत-मुनि, आत्मा के उस आनन्दस्वभाव की पहिचान कराते हैं, इसलिये वे संत निमित्तरूप से आनन्ददाता हैं। वीरसेनाचार्यदेव कहते हैं कि—इन महान परमागमों द्वारा श्री सर्वज्ञदेव ने जीवों को आनन्द की भेंट दी है... सर्वज्ञ के शास्त्र में आनन्द की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है, इसलिये कहा है कि भगवान ने ही आनन्द की भेंट दी है। जो भगवान के कहे हुए शास्त्रों का अंतर आशय समझ ले, उसे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती।

आत्मा को आनन्द की आवश्यकता है। वह आनन्द देने की शक्ति आत्मा में ही है; राग में

आनन्द देने की शक्ति नहीं है; उसमें तो दुःख देने की शक्ति है। आइसक्रीम, गुलाबजामुन, चाय, स्त्री, सुगंध आदि में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा को आनन्द प्रदान कर सकें। मूढ़ जीवों ने मूर्खता से ही उनमें आनन्द माना है। जो आत्मा के आनन्द को जान ले, वह अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं मानता; और जिसमें आनन्द न माने, उसे लेता भी नहीं है।—इसप्रकार आत्मा पात्र होकर राग का या पर का लेनेवाला नहीं है किन्तु अपने स्वभाव में से दिये जानेवाले आनन्द का ही लेनेवाला है। इसलिये ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञान-आनन्दमय ही होते हैं। रागादि सचमुच ज्ञानभाव नहीं हैं, वे तो ज्ञान से भिन्न ज्ञेय हैं; ज्ञानी उनका ज्ञाता है, किन्तु अपने आत्मा को उस राग का सम्प्रदान नहीं बनाता; ज्ञान-आनन्द का ही सम्प्रदान बनाता है, उसी को लेता है; उसी रूप परिणमित होता है। इसप्रकार सम्प्रदानशक्ति से आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शनादि का दाता तथा स्वयं ही उनका ग्रहण करनेवाला पात्र है, अन्य कोई उसका सम्प्रदान नहीं है तथा वह किसी का सम्प्रदान नहीं है।—आत्मा की ऐसी शक्ति को जानने से आत्मा समझ में आता है और धर्म होता है।

जैसे—यदि कहीं ब्याज पर रुपये रखना हों तो ऐसी पेढ़ी ढूँढ़ता है जहाँ से रुपये बढ़कर ब्याजसहित वापिस मिल सकें। उसीप्रकार आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान को कहाँ रखें—कहाँ एकाग्र करें कि जिससे उनमें वृद्धि होकर वापिस मिलें! 'शरीर सो मैं, रागादि सो मैं'—इसप्रकार यदि श्रद्धा-ज्ञान को पर में या विकार में रखे तो वे नष्ट हो जाते हैं—मिथ्या हो जाते हैं। अपना चिदानन्दस्वभाव ही ऐसा समर्थ है कि उसमें श्रद्धा-ज्ञान को रखने से वे सम्यक् होते हैं और उसके आश्रय से प्रतिक्षण निर्मलता बढ़ती जाती है; इसलिये धर्मी अपने श्रद्धा-ज्ञान पर को समर्पित नहीं करते किन्तु अपने आत्मा को ही समर्पित करते हैं।

हे जीव! तुझे आनन्द की आवश्यकता हो तो अपने स्वभाव से ही मांग। जो जिसके पास हो, वही वह देता है। तेरा आनन्द तेरे स्वभाव के पास ही है; इसलिये वही उसका दाता है; अन्य कहीं तेरा आनन्द नहीं है। आत्मा में एकाग्र होकर अपने पास से ही अपना आनन्द ले। स्वभाव में एकाग्र होने से पर्याय स्वयं आनन्दरूप परिणमित हो जाती है; इसलिये आत्मा ने आनन्द दिया और आत्मा ने आनन्द लिया—ऐसा कहा जाता है; किन्तु दाता और ग्रहण करनेवाला कहीं पृथक नहीं है।

आत्मा एक परम महिमावंत पदार्थ है। उसमें ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-आनन्द आदि अनंत शक्तियाँ हैं। अपने से भिन्न पदार्थों का वह मात्र दृष्टा ही है और वे पदार्थ मात्र उसके दृश्य ही हैं; दृष्टा आत्मा उन दृश्य पदार्थों को मात्र देखनेवाला है किन्तु उनका लेने-देनेवाला नहीं है;—जिसप्रकार आँखें बाह्य दृश्यों को मात्र देखनेवाली है, उन्हें लेने या देनेवाली नहीं है।

अब, दृष्टा स्वभाव में एकाग्रता द्वारा रागादि की उत्पत्ति भी नहीं होती, इसलिये दृष्टा भगवान रागादि का भी देने या लेनेवाला नहीं है।

दृष्टा स्वभाव में एकाग्रता से तो वीतरागी ज्ञान-दर्शन-आनन्द की ही उत्पत्ति होती है, इसलिये दृष्टा-भगवान ज्ञान-दर्शन आनन्द का ही देनेवाला है और उसी का लेनेवाला है।

—इतना रहस्य इस सम्प्रदानशक्ति में भरा है। अनंत शक्ति सम्पन्न एकाकार आत्मा में एक गुण का या पर्याय का भेद करके लक्ष में लेने से राग का विकल्प होता है और उसमें स्वरूप का दान नहीं मिलता। स्वरूप का दान लेने के लिये स्वरूप-सन्मुख होना चाहिये। चिदानन्दस्वभाव सन्मुख होकर लीन होने से स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि का दान मिलता है और उस दान का लेनेवाला आत्मा ही है; इसलिये आत्मा स्वयं ही उस स्वरूप हो जाता है।—ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

प्रश्नः—आत्मा कहाँ होगा ?

उत्तरः—जहाँ से यह प्रश्न उठता है वहीं आत्मा है। 'आत्मा कहाँ होगा ?'—ऐसा प्रश्न पूछनेवाला स्वयं ही आत्मा है। आत्मा के बिना यह प्रश्न कौन पूछेगा ? आत्मा की भूमिका में ही यह प्रश्न उठता है।

और 'आत्मा कहाँ होगा ?'—ऐसा प्रश्न किया; उसी में यह बात आ जाती है कि प्रश्न कर्ता में उसका उत्तर समझने की शक्ति है।

'आत्मा कहाँ होगा ?' उस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि 'यह जो ज्ञाता-दृष्टा है, वही आत्मा है,' और प्रश्नकर्ता को ऐसा उत्तर लक्ष में आता है कि ज्ञानी ने मुझसे ऐसा कहा; जिस ज्ञान द्वारा वह लक्ष में आता है, उस ज्ञान में ही आत्मा है; इसलिये हे भाई ! तू स्वयं ही आत्मा है; इसलिये अपने ज्ञान में ही आत्मा को ढूँढ़। यह शरीर तू नहीं है, शरीर में ढूँढ़ने से आत्मा नहीं मिलेगा। देह तो जड़, रूपी और दृश्य है, उससे भिन्न चेतन, अरूपी और दृष्टा आत्मा है, देह विनाशी है, आत्मा अविनाशी है; देह इन्द्रियगोचर है आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय है; देह संयोगी कृत्रिम वस्तु है; आत्मा असंयोगी स्वाभाविक वस्तु है। सबको जाननेवाला 'यह ज्ञाता मैं स्वयं ही हूँ'—इसप्रकार अपने को नहीं जानता—यह आश्चर्य है !! ज्ञाता स्वयं अपने को नहीं जानता, स्वयं अपने को भूल जाता है; यह एक महान भ्रम है और इसी भ्रम के कारण संसार-दुःख है।

एकबार दस मूर्ख एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहे थे। रास्ते में एक नदी आई। नदी पार करके दूसरे किनारे पहुँचे। वहाँ एक आदमी बोला कि हममें से कोई डूब तो नहीं गया? चलो गिनकर देख लें। ऐसा कहकर वह गिनने लगा—'एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ और नौ!' तुरन्त वह आदमी चौंक पड़ा कि अरे रे! हममें से एक आदमी डूब गया! फिर दूसरे मूर्ख ने गिना तो भी नौ हुए!—इसप्रकार हर एक मूर्ख ने गिन लिया, फिर भी नौ के नौ; क्योंकि गिननेवाला स्वयं अपने को भूल जाता था। सब लोग बड़ी चिन्ता में पड़ गये कि अब क्या किया जाये? वे लोग उलझन में थे, उसी समय एक बुद्धिमान आदमी उधर से निकला; उसने इन मूर्खों की उलझन समझ ली और बोला : 'भाइयो! शांत होओ... धीरज रखो... तुममें से कोई डूबा नहीं है... चलो, सब एक पंक्ति बनाकर खड़े हो जाओ... देखो, यह एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और यह दस! तुम लोग पूरे दस के दस हो।—यह जानकर मूर्खों का भ्रम दूर हो गया और उन्हें शांति हुई। फिर ध्यान आया कि अरे! हम स्वयं को गिनना भूल जाते थे, इसलिये 'नौ' होते थे और एक आदमी खो जाने का भ्रम हो जाता था। कहा भी है कि 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।'

उन दस मूर्खों की भाँति अज्ञानी जीव स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर हैरान होते हैं। यह शरीर, यह राग—इसप्रकार लक्ष में लेते हैं, किन्तु उन्हें जाननेवाला मैं स्वयं ज्ञायक हूँ—इसप्रकार स्वयं अपने को स्वसंवेदन से लक्ष में नहीं लेते; इसलिये रागादि और शरीरादि में ही अपनत्व की भ्रान्ति से वे हैरान होते हैं। ज्ञानी उनका स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि अरे जीव! तू शांत हो... धैर्य रख... धैर्यपूर्वक अपने अंतर में देख... तेरा स्वरूप तो राग से और देह से अत्यन्त भिन्न ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही है। इसप्रकार अंतर्मुख होकर आत्मा को जानते ही भ्रम दूर हो जाता है और जीव को आनन्द का अनुभव होता है। उस समय उसे ऐसा लगता है कि अरे! अभी तक मैं स्वयं के अस्तित्व को भूलकर भ्रम से दु:खी हुआ। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।'

[दृष्टान्त में मूर्ख दस थे और बुद्धिमान एक था; उसी प्रकार जगत में अज्ञानी जीव अनेक हैं और ज्ञानी तो कोई बिरले ही होते हैं।]

अज्ञानी अपने आत्मा को भूलकर पर में आत्मा ढूँढ़ता है; किन्तु पर में तो आत्मा का अभाव है। यहाँ तो कहते हैं कि राग में भी आत्मा का अभाव है। रागादि रहित सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों में ही आत्मा का सद्भाव है, क्योंकि निर्मल पर्याय ही आत्मा के स्वभाव के साथ अभेद होती है, राग या शरीर के साथ आत्मा की अभेदता नहीं है। राग सम्प्रदान होकर आत्मा के सम्यग्दर्शनादि को

धारण कर रखे अथवा आत्मा सम्प्रदान होकर राग को धारण कर रखे—ऐसा नहीं है। उसीप्रकार आत्मा सम्प्रदान होकर शरीर को धारण कर रखे या शरीर सम्प्रदान होकर आत्मा को धारण कर रखे—ऐसा भी नहीं है। आत्मा सम्प्रदान होकर अपनी निर्मल पर्याय को धारण कर रखता है। ऐसे आत्मा को समझे बिना सुख नहीं होता। ऐसे आत्मस्वभाव को समझना ही जन्म-मरण के दुःखों से छूटकर सुखी होने का उपाय है। ज्ञानियों ने अंतर का अचिन्त्य मार्ग प्रगट किया है... अहो! संतों ने मुक्ति का मार्ग सुगम कर दिया है। संतों की बलिहारी है!!

जिसप्रकार तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि को झेलनेवाले उत्कृष्ट पात्र गणधरदेव हैं, उसी प्रकार चैतन्यप्रभु के केवलज्ञानादि निर्मलभावों को झेलने की पात्रता आत्मा में ही है। आत्मा स्वयं ही अपने निर्मल भावों को ग्रहण करनेवाले पात्ररूप सम्प्रदान है। आत्मा के धर्म को रहने के लिये रागादिक या शरीर सम्प्रदान नहीं है, तथा आत्मा उन रागादिक का सम्प्रदान नहीं है। जिस प्रकार—आम्रवृक्ष आम ही देता है, उसमें आक के फल पैदा नहीं हो सकते; क्योंकि आमवृक्ष तो आमों का ही सम्प्रदान है, आक फलों का नहीं; उसी प्रकार आत्मा में एकाग्र होने से आत्मा तो निर्मल पर्यायें ही देता है, कहीं विकार नहीं देता; क्योंकि आत्मा में निर्मल पर्यायों का ही सम्प्रदान होने का स्वभाव है; विकार का सम्प्रदान होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार ज्ञान आनन्दादि समस्त गुणों में भी ऐसा ही स्वभाव है कि अपने-अपने स्वभाव से निर्मल पर्याय ही देते हैं और उसी को स्वयं ग्रहण करते हैं।

जिस ज्ञान का विकास मात्र परलक्ष से ही कार्य करे, वह ज्ञान मिथ्या है; वह मिथ्याज्ञान सचमुच ज्ञानस्वभाव ने नहीं दिया है तथा ज्ञानस्वभाव उसका पात्र (लेनेवाला-ग्रहण करनेवाला) भी नहीं है। जो स्वज्ञेय को ग्रहण करके केवलज्ञानादिरूप से परिणमित हो, वह सम्यग्ज्ञान है; ऐसा ज्ञान देने और उसी को लेने का आत्मा के ज्ञानगुण का स्वभाव है। वाणी तो जड़ है, उस वाणी द्वारा ज्ञान नहीं दिया जाता और न ज्ञान उसे लेता है; तथा उस वाणी की ओर के विकल्प द्वारा भी ज्ञान नहीं दिया जाता और न ज्ञान उस विकल्प को लेता है। आत्मा स्वयं ही अपने ज्ञानस्वभाव में से ज्ञान देता है और उस निर्मल ज्ञान को ही लेने का ज्ञानगुण का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त अज्ञान के साथ ज्ञानस्वभाव का कुछ भी लेन-देन नहीं है। आत्मा के साथ अभेदता करके जो ज्ञान प्रगट हुआ, उसी के साथ आत्मा को लेन-देन है, वह ज्ञान स्थिर रहकर केवलज्ञान हो जायेगा। मात्र पराश्रय से वर्तता हुआ ज्ञान, आत्मा के साथ स्थिर नहीं रह सकेगा, वह तो नष्ट हो जायेगा। इसलिये हे भाई!

यदि तुझे अपने ज्ञान को टिकाना हो—विकसित करना हो तो उसे आत्मा में समर्पित कर! जिसप्रकार सर्वज्ञ भगवान के निकट जाकर 'अर्घ समर्पयामि स्वाहा' करता है, उसी प्रकार इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के निकट जाकर—उसी में अंतर्मुख होकर 'ज्ञानं समर्पयामि स्वाहा' कर, तो तुझे सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी। उस सर्वज्ञता को देना तथा उसे लेकर उसका सम्प्रदान होना तेरे ज्ञानगुण का स्वभाव है।

ज्ञान की भाँति श्रद्धागुण में भी ऐसा स्वभाव है कि सम्यग्दर्शनरूप भाव को दे, और स्वयं ही उसे ग्रहण करे—यानी उसका सम्प्रदान हो। किन्तु मिथ्याश्रद्धा को दे या ले—ऐसा श्रद्धागुण का स्वभाव नहीं है। स्वसन्मुख होकर आत्मस्वभाव की श्रद्धा की, उसे देने-लेने का स्वभाव होने से वह आत्मा के साथ सदैव स्थिर रहेगा; अर्थात् श्रद्धागुण सदैव सम्यक्त्व पर्याय देता ही रहता है और स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे लेता रहेगा।

इसीप्रकार—ज्ञान और श्रद्धा की भाँति—चारित्रगुण का भी ऐसा ही सम्प्रदानस्वभाव है कि अपने अनाकुल शांतभाव को दे और उसी को स्वयं ग्रहण करे। शांति से विपरीत आकुलता-राग-द्वेषरूप भावों को देने या लेने का चारित्रगुण का स्वरूप नहीं है। वे रागादिभाव, आत्मा के साथ अभेद होकर स्थिर नहीं रहते, और शांत-अरागभाव तो आत्मा में लीनता करके टिकता है।

पुनश्च, आनन्द का भी ऐसा ही स्वभाव है कि स्वयं अपने को आनन्द दे तथा स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे ले; किन्तु परवस्तु में से आनन्द ले—ऐसा आनन्दगुण का स्वरूप नहीं है। तथा आनन्दगुण का ऐसा भी स्वरूप नहीं है कि वह दु:ख दे या ले। दु:ख का सम्प्रदान होना उसका स्वभाव ही नहीं है।

(इन ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र और आनन्द की भाँति पुरुषार्थ आदि समस्त गुणों में समझ लेना चाहिये।)

'अहो! मैं ही दाता होकर अपने आत्मा को सदैव आनन्द देता ही रहूँ तथा मैं ही सम्प्रदान होकर सदैव आनन्द लेता ही रहूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है।'—इसप्रकार जहाँ श्रद्धा हुई, वहाँ अपने स्वभाव के आनन्द का वेदन हुआ और बाह्य में कहीं भी आनन्द की किंचित्मात्र कल्पना नहीं रही। स्वयं ही दाता होकर अपने को आनन्द दिया और स्वयं ही पात्र होकर अपना आनन्द लिया, इसलिये वह आनन्द सदैव बना ही रहेगा अर्थात् आत्मा सदैव अपने को आनन्द देता ही रहेगा और स्वयं सदा लेता ही रहेगा। इसलिये हे जीव! यदि तुझे आनन्द की आवश्यकता हो तो आनन्ददाता

ऐसे अपने आत्मा के ही निकट जा; वहीं से तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी; इसके अतिरिक्त जगत में तुझे कहीं से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

आत्मा स्वयं ही निर्मल पर्याय का दाता है और स्वयं ही उसका पात्र है;—ऐसा आत्मा का सम्प्रदान स्वभाव है। उसे समझाने के लिये यहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र तथा आनन्द गुण की भिन्न-भिन्न बात ली है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि एक-एक गुण के भेद के लक्ष से निर्मलता नहीं होती। आत्मा तो एक साथ अनंतगुण का पिण्ड है, उसी के लक्ष से समस्त गुणों की निर्मल दशा होती है; एक शक्ति को पृथक् करके उसके लक्ष से विकास करना चाहे तो उसका विकास नहीं होता, वहाँ तो मात्र विकल्प होता है। उस विकल्प में ऐसी शक्ति नहीं है कि किसी गुण की निर्मल दशा प्रदान कर सके। अखण्ड आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि वह अनंत गुणों से परिपूर्ण परमात्मदशा प्रदान करता है।

अहो! मेरा आत्मा अनंतानंत शक्ति का भण्डार अनादि-अनंत है। वह ऐसा उदार दाता है कि जब मैं पात्र बनकर लेना चाहूँ, उसी समय परमात्मदशा मुझे दे सकता है। हे जीवो! ऐसे निजस्वभाव की तुम प्रतीति तो करो... उसकी पहिचान तो करो... उसके प्रति उल्लास तो प्रगट करो! जिसने ऐसे चैतन्यस्वभाव को लक्ष में लिया, उसका जीवन सफल है;—दूसरों की तो क्या कहें?

आत्मा स्वयं ही अपने को सुख का दाता है। यदि वह स्वयं ही अपने को सुख का देनेवाला न हो, तथा उसे दूसरे से सुख की याचना करना पड़ती हो, तब तो पराधीनता हो गई; पराधीनता में तो स्वप्न में भी सुख कहाँ से हो सकता है? आत्मा स्वाधीनतारूप से स्वयं ही अपने को सुख का देनेवाला है और स्वयं ही पात्र होकर लेता है।

(१) 'पात्र को दान देना चाहिये,'—पात्र कौन है जगत में? मैं आत्मा स्वयं ही अपना सुख लेने को पात्र हूँ।

(२) 'दाता है कोई?' हाँ, अनंत शक्तिसम्पन्न मैं स्वयं ही दाता हूँ।

(३) 'दाता, दान में क्या देगा?' मेरा आत्मा दाता होकर ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप निर्मलपर्यायों का दान देगा।

(४) 'किस विधि से दान देगा?'—अपने से ही देगा, अर्थात् स्वयं अपने स्वरूप में एकाग्र रहकर स्वरूप-भण्डार में से ही निर्मल पर्यायें निकाल-निकालकर उनका दान देगा।

दान देने का अवसर आने पर दाता छिपता नहीं है; उसीप्रकार हे जीव! तेरे लिये यह दान

का अवसर आया है, उसे तू मत चूकना। तू स्वयं पात्र होकर तथा स्वयं ही दाता होकर ज्ञान-दर्शन-आनन्द की निर्मल पर्यायों का दान अंतर में एकाग्र होकर दे और सम्प्रदान होकर तू ही वह दान ले। अनंत शक्ति से परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव जैसा महान दाता मिला है तो अब उसकी सेवा (श्रद्धा और एकाग्रता) करके परमात्मदशा का दान माँगे तो तुझे अपनी परमात्मदशा का दान अवश्य मिल जाये। वह परमात्मदशा लेकर उसका सम्प्रदान होना तेरा स्वभाव है।

'अपने स्वभाव को साधकर मैं परमात्मा होऊँ,'—ऐसी भावना के बदले 'मैं समझकर फिर दूसरों को समझा दूँ'—इसप्रकार जो दूसरों को समझाने के अभिप्राय से समझना चाहता है, वह पर को अपनी समझ का सम्प्रदान मानता है; इसलिये वह अंतर्मुख होकर अपने स्वभाव को नहीं साध सकता। जो आत्मार्थी हैं, वे तो अपने-अपने हित के लिये ही समझना चाहते हैं।

अहो! अनंत काल में बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो—ऐसा यह अवसर आया है; उसमें गुरुगम से सत् स्वभाव का श्रवण मिलना तो महान दुर्लभ है। ऐसे अवसर में अपूर्व भाव से श्रवण, ग्रहण तथा धारण करके स्वभाव में प्रवेश करने की यह बात है; वही करने योग्य है। इसके सिवा और सब तो घूरा खोदने के समान व्यर्थ है।

भगवान आत्मा का यथार्थस्वरूप बतलाने के लिये वह उसकी शक्तियों का वर्णन चल रहा है, उसमें इस (44 वीं) सम्प्रदानशक्ति में आत्मा को सुपात्र सिद्ध किया।—काहे का?—सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक का। उन सम्यग्दर्शन का दाता भी आत्मा ही है और पात्र होकर उनका लेनेवाला भी वही है। देखो, यह दाता ने सुपात्रदान दिया। अहो! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का दान! इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ दान और कौन होगा? निर्मल ज्ञान-आनन्दमय पर्याय प्रगट हो, उसका दाता भी स्वयं और उसे लेनेवाला—पात्र भी स्वयं;—ऐसी शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

वाह! मेरा आत्मा ही महान दाता है और वही महान पात्र है। केवलज्ञान प्रदान करे और उसे ग्रहण करे—ऐसी शक्ति मेरे आत्मा की है। मेरा द्रव्य ही दाता... और द्रव्य ही स्वयं लेनेवाला पात्र।—ऐसा निर्णय करके, हे जीव! अपने द्रव्य की ओर देख... तो तुझे आनन्द के निधान का दान मिलेगा।

आहार, औषधि, पुस्तकें या पैसा आदि परवस्तुओं का दाता या उन्हें ग्रहण करनेवाला आत्मा नहीं है; रागादि विकारभावों को दे या ले—ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो वीतरागी-आनन्द को ही देने-लेने का है। ऐसे स्वभाव को साधनेवाले साधक को

कषायों की अत्यन्त मन्दता सहज ही हो जाती है; किन्तु उस मंद कषाय के भाव को भी देने या लेने का अपना स्वभाव नहीं मानते; स्वभाव के आश्रय से जो अकषायी-वीतरागी भाव होते हैं, उन्हीं का दाता एवं पात्र अपना आत्मा है—ऐसा साधक धर्मी जानते हैं। त्रिकाली स्वभाव तो राग का सम्प्रदान नहीं है और उस स्वभाव के आश्रय से होनेवाली पर्याय भी राग का सम्प्रदान नहीं होती।—इसप्रकार द्रव्य से तथा पर्याय से—दोनों प्रकार से आत्मा, विकार का सम्प्रदान नहीं है किन्तु वीतरागी भाव का ही सम्प्रदान है। जहाँ शुद्ध द्रव्य का आश्रय किया, वहाँ पर्याय में से विकार की योग्यता दूर हो गई और अविकारी आनन्द की योग्यता हुई, वह आनन्द की ही पात्र है। जिसप्रकार उत्तम वस्तु रखने का पात्र भी उत्तम होता है; सिंहनी का दूध सुवर्ण-पात्र में ही रहता है; उसीप्रकार जगत में महान उत्तम ऐसा जो अतीन्द्रिय आनन्द, उसका पात्र भी उत्तम ही है;—कौन सा पात्र है ?—तो कहते हैं कि आत्मस्वभावोन्मुख परिणति ही उस आनन्द का पात्र है। आत्मा में ही ऐसी उत्तम पात्र शक्ति (सम्प्रदान शक्ति) है कि स्वयं परिणमित होकर अपने अतीन्द्रिय आनन्द को स्वयं झेल सके—ग्रहण कर सके।

जिस जीव में ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द झेलने की पात्रता जागृत हो, उसमें गुरु के प्रति विशिष्ट प्रकार की विनय भी प्रगट होती है! ज्ञानी को गुरु के प्रति अंतर से जैसा बहुमान आयेगा, वैसा अज्ञानी को नहीं आ सकता। यद्यपि निश्चय से गुरु अपने आत्मा में से ज्ञान या आनन्द निकालकर कहीं शिष्य को नहीं दे देते, और शिष्य का आत्मा कहीं अपने ज्ञान या आनन्द, गुरु के पास से नहीं लेता; गुरु देते हैं और पात्र शिष्य लेता है—यह बात तो व्यवहार की है; तथापि श्रीगुरु के उपदेश द्वारा आत्मस्वभाव समझकर जहाँ शिष्य को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हुई, वहाँ रोम-रोम में गुरु के प्रति अपार विनय से उसका आत्मा उछल पड़ता है... निश्चय प्रगट होने से उसका व्यवहार भी लोकोत्तर बन जाता है... और श्रीगुरु के अनंत उपकार को व्यक्त करते हुये कहता है कि अहो प्रभो! आपने ही इस पामर को आनन्द का दान दिया... मैं अपने आनन्द को भूलकर अनंत संसार में भटक रहा था; उससे छुड़ाकर आपने ही मुझे आनन्द प्रदान किया... घोर भव-भ्रमण से आपने ही मुझे बचाया... हे नाथ! आपके अनंत उपकार का बदला हम कैसे दें ?—इसप्रकार अपार विनयपूर्वक गुरु के चरणों में अर्पित हो जाता है। निश्चय से साधकदशा में देव-गुरु के प्रति ऐसा विनय आदि का व्यवहार सहज ही होता है। यदि आत्मा में से ऐसी विनय न आये तो उस जीव को निश्चय का परिणमन भी नहीं हुआ है—ऐसा समझना चाहिये। गुरु से ज्ञान नहीं होता—ऐसा कहकर जो गुरु

की विनय छोड़ देता है, वह महान स्वच्छन्दी है, उसमें आनन्द को झेलने की पात्रता जागृत नहीं हुई है। अहो! यह तो निश्चय-व्यवहार की संधिसहित अचिन्त्य लोकोत्तरमार्ग है। साधकदशा क्या वस्तु है—उसकी लोगों को खबर नहीं है। साधक को तो सभी पक्षों का विवेक वर्तता है। सम्यग्दृष्टि को गणधर जैसा विवेक प्रगट होता है। कहा है कि—

''जाके घट प्रगट विवेक गणधर को सो,
हिरदे हरखि महामोह को हरतु है;
साचो सुख माने निज महिमा अडोल जाने,
आपुही में आपनो सुभाउ ले धरतु है।
जैसे जलकर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव अजीव विलछनु करतु है;
आतमसकति साधे ज्ञान को उदौ आराधे;
सोई समकिती भवसागर तरतु है।'' [- नाटक समयसार, ८]

—देखो, यह साधक सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा! जिसके हृदय में गणधर जैसा निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मा के अनुभव से आनन्दित होकर मिथ्यात्वादि महामोह को नष्ट करता है, सच्चे स्वाधीन सुख को सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणों का अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभाव को अपने में ही धारण करता है; जिसप्रकार कतकफल, जल और कीचड़ को पृथक् कर देता है; उसीप्रकार जो जीव और अजीव को विलक्षण जानकर पृथक करता है, जो आत्मशक्ति को साधता है और ज्ञान के उदय की (केवलज्ञान की) आराधना करता है;—ऐसा सम्यक्त्वी जीव भवसागर से पार होता है।

सम्यक्त्वी जीव की यथार्थ पहिचान करे तो जीव का लक्ष बदल जाये और अपने स्वभाव की ओर ढले। सम्यक्त्वी तो अपने स्वभाव को ही साधते हैं। अरे जीव! तू ही अपना दाता और तू ही अपना पात्र। तू दाता होकर अपनी पर्याय में चाहे जितना दान दे, तथापि तेरी स्वभाव शक्ति में से कुछ भी कम नहीं होगा—ऐसा तेरा स्वभाव है। ऐसे दाता को छोड़कर अब तुझे बाह्य में कौन-सा दाता ढूँढ़ना है? इस दाता की ओर देखकर तू उससे निर्मल पर्याय का दान लेने की पात्रता अपने में प्रगट कर... दूसरों के पास भीख न माँग।

दूसरे के पास दान माँगने जाये तो वह नहीं भी देता, किन्तु यहाँ तो स्वयं पात्र हो, वहाँ आत्मा

सम्यग्दर्शनादि का दान दिये बिना नहीं रहता—ऐसा महान दाता है। जब स्वयं ही दाता है, तब चिन्ता कैसी? स्वभाव में एकाग्र होकर तुझे जितना चाहिये, दान ले... तुझे जितने ज्ञान-आनन्द की आवश्यकता हो, उतने देने की शक्ति तेरे स्वभाव में भरी है। लौकिक में दान देनेवालों की पूंजी तो कम होती है, किन्तु यहाँ तो आत्मा स्वयं ऐसा लोकोत्तर दाता है कि प्रतिक्षण (—प्रतिसमय) परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द का दान अनंत काल तक देता ही रहे, तथापि उसकी पूंजी जरा भी कम नहीं होती।

आत्मा स्वयं पूर्ण शक्तिमान है; स्वयं अपने में लीन होकर अपने स्वभाव में से निर्मलता का दान करता है और स्वयं ही वह दान लेता है;—ऐसा दान लेने की पात्रतारूप सम्प्रदानशक्ति आत्मा में है। जिसप्रकार आत्मा में ज्ञानशक्ति है, आनन्दशक्ति है, उसीप्रकार यह सम्प्रदानशक्ति भी है। यदि आत्मा में ज्ञानशक्ति न हो तो आत्मा जानेगा कहाँ से? यदि आत्मा में सुखशक्ति न हो तो आत्मा को अनाकुलतारूप सुख कहाँ से होगा? यदि आत्मा में श्रद्धाशक्ति न हो तो स्वयं अपना विश्वास कहाँ से करेगा? यदि आत्मा में चारित्रशक्ति न हो तो अपने स्वरूप में स्थिरता कैसे करेगा? यदि आत्मा में जीवनशक्ति न हो तो आत्मा जी कैसे सकेगा? यदि उसमें वीर्यशक्ति न हो तो अपने स्वरूप की रचना का सामर्थ्य कहाँ से लायेगा? यदि प्रभुत्वशक्ति न हो तो अखण्डित प्रतापवाली स्वतंत्रता से किसप्रकार शोभायमान होगा? यदि उसमें कर्तृत्वशक्ति न हो तो अपने निर्मल कार्य को कैसे करेगा? उसीप्रकार यदि आत्मा में सम्प्रदानशक्ति न हो तो स्वयं अपना दाता और स्वयं ही निर्मलता का ग्रहण करनेवाला पात्र कैसे हो सकेगा? अपने स्वभाव से आत्मा स्वयं ही ज्ञान-आनन्द का देनेवाला तथा स्वयं ही उसका लेनेवाला है—ऐसे भान बिना परवस्तु के लेन-देन का मिथ्या विकल्प कभी नहीं छूटेगा और अंतर में एकाग्रता नहीं होगी। ज्ञानी तो 'मैं ही अपना दाता और मैं ही अपना पात्र'—ऐसे निर्णय के बल से अंतरस्वभाव में एकाग्र होकर ज्ञान-आनन्द के निधान प्राप्त कर लेता है। आत्मा में ऐसी सम्प्रदानशक्ति है कि एक समय में स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है; देने या लेने का समय भेद नहीं है; तथा दाता या पात्र पृथक नहीं है। अहो! अपने स्वभाव में से ही केवलज्ञान और सिद्धपद का दान लेने की मेरी शक्ति है—ऐसी प्रतीति करके, स्वसन्मुख होकर स्वयं अपनी शक्ति का दान कभी नहीं किया है; स्व को चूककर पराश्रय द्वारा अनादि से विकार का ही दान लिया है। यदि पात्र होकर स्वयं अपनी शक्ति का दान ले तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाये; इसलिये हे जीव! अपनी स्वभावशक्ति को सम्हाल... और उस स्वभाव द्वारा दिये जानेवाले निर्मल ज्ञान-आनन्द का दान ले।

—यहाँ ४४ वीं सम्प्रदानशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

लक्ष्मी किसी के रखने से नहीं रहती

(१) अनित्य भावना

[''द्वादशानुप्रेक्षा'' में अनित्य भावना पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से वैराग्य प्रधान, सुन्दर एवं सरल लेख]

सवेरे जिसे राजसिंहासन पर देखा हो, वही सायंकाल स्मशान में भस्म होता दिखाई देता है—ऐसे तो अनेक प्रसंग संसार में आते ही रहते हैं; तथापि मोहमूढ़ जीवों को वैराग्य नहीं आता। भाई! संसार को अनित्य जानकर, तू आत्मा की ओर ढल.... एकबार अपने आत्मा की ओर देख। बाह्य भाव अनन्तकाल तक करने पर भी तुझे शांति प्राप्त नहीं हुई, इसलिये अब तो अन्तर्मुख हो! यह संसार या संसार के संयोग स्वप्न में भी इच्छनीय नहीं हैं; अन्तर का एक चिदानन्दतत्त्व ही भावना करनेयोग्य है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, आत्मा का अपना ज्ञानस्वरूप ही ध्रुव रहनेवाला है; इसके अतिरिक्त लक्ष्मी आदि कुछ भी ध्रुव नहीं है। लक्ष्मी आदि का संयोग क्षणिक हैं, वह क्षणमात्र में छूट जाता है, कोई जीव उसे रोक नहीं सकता। कोई लक्ष्मी आदि को स्थिर रखने का अभिमान करे तो वह मिथ्या है; क्योंकि पुण्यवान ऐसे चक्रधरों के भी जो लक्ष्मी शाश्वत्‌रूप नहीं रहती, वह अन्य पुण्यहीन जीवों में कैसे रति को प्राप्त होगी? कुलीन या धीर, पंडित या सुभट, पूज्य, धर्मात्मा या रूपवान सुजन या महा पराक्रमी आदि किसी भी पुरुष में लक्ष्मी राचती नहीं है—एक रूप नहीं रहती।

(१) ''हम तो कुलीन हैं, हमारे यहाँ तो दस-दस पीढ़ी से महान लक्ष्मी चली आ रही है; अब वह हमें छोड़कर कहाँ जा सकती है?''—इसप्रकार कोई अभिमान करे तो वह वृथा है। अरे भाई! लक्ष्मी का स्वभाव ही अध्रुव है; वंश परम्परा से चली आ रही लक्ष्मी भी क्षणमात्र में चली जाती है, तब उसे कोई रोककर नहीं रख सकता। जिनके पूर्वज कोट्याधिपति श्रीमंत हों, उन्हें दो बार भोजन भी दुर्लभ हो जाता है—ऐसे उदाहरण क्या जगत में नहीं दिखाई देते? इसलिये उसका अभिमान छोड़। कदाचित् पुण्योदय के अनुसार लक्ष्मी का संयोग रहे, तब भी उसमें कोई सुख नहीं

है, वह तो अध्रुव और अशरण ही है। (यहाँ लक्ष्मी की मुख्यता से बात कही है; लक्ष्मी की भाँति शरीर, पुत्र, स्त्री, मित्र, मकान आदि में भी समझना चाहिये।)

(२) पुनश्च, कोई ऐसा माने कि मैं तो धैर्यवान हूँ, तो अपनी लक्ष्मी कैसे गँवा दूँगा? किन्तु भाई! तेरा धैर्य तेरी पर्याय में रहेगा, लक्ष्मी जाने के समय तेरा धैर्य उसे नहीं रोक सकेगा। तू धैर्य रखे, इसलिये लक्ष्मी का वियोग न हो - ऐसा नहीं है। इसलिये उसे अध्रुव जानकर उसमें से सुखबुद्धि छोड़ और ध्रुव चैतन्य की भावना कर।

(३) और कोई ऐसा माने कि मैं पंडित और चतुर हूँ; इसलिये अपनी बुद्धि से मैं लक्ष्मी को बनाये रख सकूँगा, उसे जाने नहीं दूँगा।—तो उससे कहते हैं कि अरे भाई! यह भी तेरी भ्रमणा है। क्या तेरी भ्रमणा के कारण लक्ष्मी रुक जायेगी?—नहीं; उसके संयोग का काल पूरा होते ही वह तत्क्षण चली जायेगी; तेरी लाख बुद्धि या चतुराई भी वहाँ काम नहीं आ सकेगी। बड़े-बड़े बुद्धिवान-पढ़े लिखे आजीविका के लिये भटकते दिखाई देते हैं, तथापि उन्हें लक्ष्मी नहीं मिलती; और अनपढ़-मूर्ख व्यक्तियों को भी लाखों रुपये की आमदनी दिखाई देती है—इसलिये बुद्धि द्वारा लक्ष्मी की रक्षा हो सकेगी, यह भी भ्रमणा है। भाई, लक्ष्मी तो तभी तक रहेगी जबतक पुण्य होगा, उसमें अपनी बुद्धि लगाने की अपेक्षा आत्महित में अपनी बुद्धि लगा।

(४) और कोई ऐसा अभिमान करे कि मैं तो बलवान योद्धा हूँ, किसकी शक्ति है जो मेरी लक्ष्मी ले सके! तो उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! पुण्य का ह्रास होने पर लक्ष्मी चली जायेगी, वहाँ तेरा बल काम नहीं आयेगा। जाती हुई लक्ष्मी को तेरा बल नहीं रोक सकेगा। बड़े-बड़े राजा भी क्षण भर में मिट गये! इसलिये अपने बल का अभिमान छोड़ और चैतन्य की साधना में अपना बल-पुरुषार्थ लगा। लक्ष्मी जा रही होगी, वहाँ तेरी शारीरिक शक्ति काम नहीं आयेगी; हाँ, यदि ज्ञान बल होगा तो वह आत्मा की शांति के लिये काम आयेगा। लक्ष्मी रहे या जाये, उसमें मेरा बल नहीं है, वह तो अनित्य स्वभाववाली ही है, इसलिये उसका काल पूर्ण होने पर वह चली जायेगी।—ऐसा जानकर, हे जीव! तू अपने ज्ञानस्वरूप की भावना भा! वह भावना आनन्द की जननी है।

(५) और कोई ऐसा माने कि मैं तो पूज्य हूँ, लोग मेरा बहुमान करते हैं, इसलिये मेरी लक्ष्मी को ध्रुव मान रहे हैं, वे भी अज्ञानी हैं। लक्ष्मी तो अध्रुव है; किसी भी प्रकार से उसका सम्बन्ध छूट जायेगा। अरे, स्वयं अपने हाथ से धरती में धन गाड़ा हो, और जब निकालने जाता है,

तब कोयला निकलता है! कोई ले नहीं जाता, किन्तु लक्ष्मी स्वयं ही कोयलारूप परिणमित हो जाती है—ऐसी अनेक घटनाएँ होती हैं।

(६) और कोई ऐसा माने कि मैं धर्मी हूँ; व्रतादि पुण्य करता हूँ, तो मेरी लक्ष्मी कहाँ जायेगी? पुण्य से तो लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। तो उससे कहते हैं कि अरे भाई! ज्ञानस्वभाव की भावना भा, और लक्ष्मी और पुण्य की भावना छोड़। लक्ष्मी पुण्य से प्राप्त होती है, यह बात सच है, परन्तु पुण्य स्वयं भी अध्रुव है और उसका फल भी अध्रुव है। और पुण्य करके लक्ष्मी प्राप्त करने की जो भावना है, वह तो पाप है। यदि पूर्व पुण्य का ह्रास हो गया तो वर्तमान में शुभपरिणाम होने पर भी लक्ष्मी चली जाती है; इसलिये हे भाई! तू समझ कि यह वस्तु ही आत्मा के आधीन नहीं है; आत्मा के आधीन तो अपना ज्ञानानन्दस्वभाव है, इसलिये उस स्वभाव की ही भावना करने योग्य है। जड़ लक्ष्मी कहीं आत्मा को सुख की देनेवाली नहीं है; आत्मा का ज्ञानस्वभाव ही आत्मा को सुख देनेवाला है। जो वास्तव में धर्मी है, वह तो ऐसा जानकर स्वभाव की ही भावना भाता है। किन्तु जो धर्मी न होने पर भी, किंचित् दानादि के शुभपरिणाम से अपने को धर्मी मानता है और लक्ष्मी को ध्रुव मानकर उसकी भावना करता है—ऐसे अज्ञानी को यहाँ समझाया है।

(७) और कोई ऐसा अभिमान करे कि मैं रूपवान हूँ, इसलिये मेरी लक्ष्मी नहीं जायेगी, तो वह भी व्यर्थ है। भाई! लक्ष्मी रूप-कुरूप कहाँ देखती है? कुरूप मनुष्य के घर भी अपार लक्ष्मी होती है और रूपवान भी दरिद्री दिखाई देते हैं। शरीर के अवयवों में कमी नहीं है तो लक्ष्मी में कमी कैसे होगी? यह बात मिथ्या है। भाई! शरीर और शरीर का रूप भी एकबार राख हो जायेगा, वहाँ लक्ष्मी की क्या बात?

(८) और कोई ऐसा माने कि मैं तो सज्जन परोपकारी हूँ, इसलिये मेरी लक्ष्मी ध्रुव स्थित रहेगी, तो यह विचार भी मिथ्या है। लक्ष्मी का स्वभाव ही अस्थिर है।

(९) कोई ऐसा कहे कि मैं महा पराक्रमी हूँ, इसलिये लक्ष्मी को नहीं जाने दूँगा तो उसका अभिमान भी मिथ्या है। अरे भाई! परद्रव्य के परिणमन में तेरा पराक्रम क्या काम आयेगा? जहाँ उसका परिणमन बदला, वहाँ वह देखते ही देखते विलय को प्राप्त हो जाती है; किसी के रखने से नहीं रहती; इसलिये उसे स्थिर रखने का अभिमान छोड़, उसे अनित्य जान, अशरण जान, और अपनी चैतन्य सम्पदा को ही ध्रुवरूप, शरणरूप जानकर उसकी भावना कर।

इसप्रकार लक्ष्मी की भाँति शरीर, मकान, स्त्री, पुत्रादि समस्त संयोग अध्रुव हैं; अरे!

विकार भी अध्रुव है, ध्रुव तो मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है।—ऐसा जानकर ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की ओर ढलना, वह अनित्य भावना का फल है। ध्रुव स्वभावोन्मुख हुए बिना, ''लक्ष्मी आदि अनित्य हैं''—ऐसा कहकर, उन्हें छोड़कर भागे तो वह कहीं अनित्य भावना नहीं है और उसमें सच्चा वैराग्य भी नहीं है। पर में इष्ट-अनिष्ट की श्रद्धा छोड़कर, अनित्य संयोगों की भावना से विमुख होकर, नित्यानन्दस्वभाव की ओर ढला, उसी को सच्चा वैराग्य और सच्ची भावना होती है।

यहाँ लक्ष्मी की अनेक प्रकार से अनित्यता बतलाई। अब, जिसे आराधक पुण्य हो, उसके लक्ष्मी आदि की यद्यपि वृद्धि होती जाती है, परन्तु वह आराधक जीव उन लक्ष्मी आदि के संयोगों को अध्रुव तथा अपने से भिन्न जानकर उनकी भावना नहीं भाता; अपने ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की ही भावना भाता है।

जो जीव, चैतन्य की भावना तो नहीं भाता और अकेली लक्ष्मी की ममता में ही जीवन गँवा रहा है, उस पर करुणा से शास्त्रकार कहते हैं कि—जो पुरुष लक्ष्मी की ममता करके उसे सुरक्षित रखना चाहता है और उसे सुपात्रदान, यात्रा, भक्ति, प्रभावना आदि के कार्यों में नहीं लगाता, वह पुरुष तीव्र ममत्वभाव के कारण स्वयं अपने आत्मा को ही धोखा देता है; लक्ष्मी की ममता में वह मनुष्य भव को हार जाता है—उसकी उसे खबर नहीं है। अरे, ऐसा मनुष्य अवतार मिला, उसमें आत्मा की चैतन्य लक्ष्मी को भूलकर जो जड़ लक्ष्मी में मोहित हो गया, वह जीव आत्मा को धोखा दे रहा है। अहा, चैतन्य की असाधारण सम्पदा के निकट इस जड़ लक्ष्मी का क्या मूल्य है ? जिसे ज्ञान-आनन्दरूप सम्पदा से भरपूर चैतन्य के ध्रुव चिदानन्द का चमत्कार भासित हुआ है, उसका अनुभव हुआ है, उसका लक्ष भी हुआ है, उसे चैतन्यस्वभाव की सम्पदा की अपेक्षा जगत में अन्य कोई वस्तु महिमावंत भासित नहीं होती; चैतन्य की प्रीति की अपेक्षा जगत के किसी पदार्थ के प्रति विशेष प्रीति उसे नहीं आती; चैतन्य के आनन्द निधान के निकट इन्द्र की सम्पदा भी उसे तृणतुल्य भासित होती है।

अब, जिसे चैतन्यस्वभाव की भावना हो और ऐसे जीव को धर्म के निमित्तरूप देव-गुरु-धर्म तथा शास्त्र की भक्ति और प्रभावना का उल्लास आता है और उसके लिये तन-मन-धन अर्पण करता है। यद्यपि देव-गुरु-धर्म को कहीं उसके धन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसे वैसा भाव उल्लसित हुए बिना नहीं रहता। शास्त्रकार तो यहाँ तक कहते हैं कि समय आने पर देव-गुरु-धर्म की भक्ति-प्रभावनादि प्रसंगों में अपनी पदवी के अनुसार लक्ष्मी आदि की अर्पणता का भाव यदि न

आये, उसमें बहाने निकाल कर कृपणता करे तो वह मायावी है; वह धर्मी या धर्म का भक्त नाम धारण करता है किन्तु उसे धर्म का सच्चा प्रेम नहीं है, वह स्वयं अपने को ठगता है। अहो! चैतन्य की महिमा करके राग का अभाव करने का अवसर आया, राग कम करके धर्म की प्रभावना का सुअवसर प्राप्त हुआ, ऐसे प्रसंग में भी जिसे उल्लास न आया और लक्ष्मी आदि की ममता में ही अटका रहा, धर्म प्रभावना के हेतु लक्ष्मी को व्यय करने का भाव न आया तो उसका मनुष्यपना और लक्ष्मी दोनों निष्फल हैं। जो अपनी लक्ष्मी को धर्म प्रभावना के कार्यों में नहीं लगाता और धरती में गाड़ रखता है, वह लक्ष्मी को पाषाण समान बनाता है—पत्थर में और उसकी लक्ष्मी में क्या अन्तर है? अरे, उसका हृदय भी पाषाण सदृश है और लक्ष्मी भी।

जो पुरुष अपने परिणाम में ममता कम करके लक्ष्मी का सदुपयोग नहीं करता और उसे रख छोड़ता है, वह पुरुष सचमुच लक्ष्मी का स्वामी नहीं किन्तु उसका रक्षक है; उसके लिये तो वह पराई लक्ष्मी के समान ही है। वह जीव, पुत्रादि के लिये लक्ष्मी को तो यहाँ छोड़ जायेगा और अपनी ममता के पापपरिणामों को साथ ले जायेगा।

अहा! जो जीव, लक्ष्मी में ही आसक्त होकर दिन-रात कष्टपूर्वक उसी के उपार्जन में लगा रहता है और आत्महित के विचार का भी अवकाश नहीं निकालता, वह मूढ़ जीव सिर्फ राजा या कुटुम्बादि का ही कार्य साध रहा है; अर्थात् उसकी लक्ष्मी या तो राजा के यहाँ पहुँचेगी अथवा कुटुम्बियों को मिल जायेगी; उसके हाथ में तो पाप के अतिरिक्त कुछ नहीं रहेगा।

जो दिन-रात लक्ष्मी की ही चिन्ता में लगे रहते हैं, लक्ष्मी कैसे प्राप्त करूँ और कैसे उसकी रक्षा करूँ, ऐसी चिन्ता के मारे जिन्हें आत्मा की चिन्ता का अवकाश भी नहीं मिलता, लक्ष्मी के लिये तीव्र पाप परिणाम करते हुए भी जो नहीं अचकते, वे पामर जीव तो लक्ष्मी के दास हैं; निरन्तर लक्ष्मी के गुलाम रहकर वे व्यर्थ जीवन गंवा देते हैं। धर्मी तो जानता है कि मैं अपनी अनन्त चैतन्य लक्ष्मी का स्वामी हूँ; इसलिये वे जगत के प्रति उदास हैं और ऐसे धर्मी ही इस जगत में सुखी हैं। बनारसीदासजी कहते हैं कि—

''रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसे घट में प्रगट सदा,
अन्तर की लक्ष्मी सो अजाची लक्षपति है,
दास भगवन्त के उदास रहें जगत सों,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।''

जगत में धनवान सुखी हैं—ऐसा नहीं कहा, किन्तु जिन्हें अन्तर की लक्ष्मी का लक्ष है—ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा इस जगत में सदैव सुखी हैं।

जिसे धर्म का प्रेम है, उसे धर्म कार्यों में लक्ष्मी के व्यय का उत्साह आये बिना नहीं रहता, और उसी की लक्ष्मी सफल है। धर्मात्मा पुरुष सदैव धर्म के नये-नये महोत्सव करके धर्म-प्रभावना में अपनी लक्ष्मी का उपयोग करता है। लक्ष्मी का व्यय करने से वह कम नहीं होती और पुण्य का ह्रास हो तो रहती नहीं है। इसलिये कहते हैं कि हे भाई! लक्ष्मी को अनित्य जानकर, अपने परिणाम में उसकी ओर का मोह कम कर और ध्रुव चिदानन्दस्वभाव की ओर प्रेम बढ़ा।

देखो, यह भावलिंगी निर्ग्रन्थ संतों की वाणी है; उनके पास कोई परिग्रह नहीं होता; बारम्बार वे निर्विकल्प होकर आत्मा के आनन्द में लीन होते हैं;—ऐसे लीन होते हैं मानों सिद्ध परमेष्ठी बैठे हों। भाई, ऐसे वीतरागी संतों को कहीं तेरी लक्ष्मी की आवश्यकता नहीं है; अरे! लक्ष्मी तो क्या, किन्तु वस्त्र का एक ताना भी वे नहीं रखते। ऐसे संत, जगत पर करुणा करके यह वस्तुस्थिति प्रगट करते हैं; लक्ष्मी की तीव्र ममता द्वारा लोभरूपी गहरे कुएँ की खोह में पड़े हुए जीवों को उससे बाहर निकालने के लिये लक्ष्मी की अनित्यता बतलाकर दानादि का उपदेश देते हैं। इसमें धर्म के लक्षपूर्वक मुख्य बात है। धर्म की सच्ची प्रीतिवाले जीव को मुनि आदि धर्मात्माओं को आहारादि दान में, जिनमन्दिरादि में तथा धर्म प्रभावना के सर्व प्रसंगों में लक्ष्मी के व्यय की उमंग आये बिना नहीं रहती। वह लौकिक एवं धार्मिक प्रसंगों के भेद का विवेक करता है। लौकिक शिक्षा या चुनाव आदि में तो लाखों रुपये खर्च कर दे और जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, ज्ञान प्रचार आदि धार्मिक कार्यों में उल्लास न बतलाये; सौ-दो सौ खर्च करने में भी बोझ मालूम हो तो उसे धर्म का विवेक नहीं कहा जाता। अहा, जिसे धर्म का रंग लगा हो, उसे धार्मिक प्रसंग में कितना उल्लास होता है! उसे सिखाना नहीं पड़ता; किन्तु धार्मिक प्रसंग आते ही उसे ऐसा उल्लास आता है कि "यह तो मेरा ही काम है।" जिसप्रकार पुत्र के विवाह में माता को उत्साहित करने की आवश्यकता नहीं होती; पुत्र प्रेम और अनुराग के कारण माता को वैसा उत्साह आ ही जाता है; उसीप्रकार धर्मी को भी धर्म के प्रति रुचि के कारण धार्मिक प्रसंगों में उल्लास आ ही जाता है। धार्मिक प्रसंगों में धर्मात्मा का उत्साह छिपा नहीं रहता,—जिसप्रकार युद्ध के समय राजपूत नहीं छिपता।

इसप्रकार आत्मा के स्वभाव को ध्रुव जानकर और लक्ष्मी को अध्रुव जानकर जो जीव आत्मा का प्रेम करता है और लक्ष्मी का प्रेम छोड़ता है, तथा धर्म वत्सलतापूर्वक अपनी लक्ष्मी का

दान करता है, उसका जीवन सफल है। स्वयं तो धर्मयुक्त वर्तता है और दूसरे धर्मात्मा को देखकर प्रमोद से निरपेक्षरूप से (-किसी भी प्रकार के बदले की आशा बिना) लक्ष्मी का दान करता है, उसका जीवन सफल है। मोक्षमार्ग साधक मुनिवरों को या धर्मात्मा को देखते ही धर्मी को ऐसे भाव उल्लसित होते हैं कि वाह! यह जीव मोक्षमार्ग की साधना कर रहे हैं; मैं जिस मोक्षमार्ग की साधना करना चाहता हूँ, उसी को यह साध रहे हैं; इनका जीवन धन्य है; और उनकी सेवा में मेरी लक्ष्मी का उपयोग हो तो मेरा जीवन भी सफल है।—इसप्रकार भक्ति से उल्लसित होकर धर्मी जीव आहारदान, शास्त्रदान आदि में उत्साहपूर्वक अपनी लक्ष्मी लगाता है।

देखो तो सही, छठवें गुणस्थान में वर्तते हुए मुनियों का यह उपदेश है.... वे मुनिवर तो जगत से निःस्पृह एवं निरपेक्ष महा संत थे; स्वयं वैराग्य भावनाओं में झूलते-झूलते यह वैराग्य भावनाओं का उपदेश निकला है। वे स्वयं तो लक्ष्मी आदि के सर्वस्व त्यागी हैं, किन्तु जो जीव धर्मात्मा है और अभी लक्ष्मी आदि का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, गृहस्थ दशा में वर्तता है—ऐसे जीव को जिनमन्दिर बनवाने, भगवान की पूजा-प्रतिष्ठा कराने, महान रथयात्रा, तीर्थयात्रा, शास्त्र प्रचार, साधर्मियों के प्रति वात्सल्यादि के भाव आते हैं; मुनि भी गृहस्थों को वैसे कार्यों का उपदेश देते हैं और गृहस्थ भी उन कार्यों में अपनी लक्ष्मी का उपयोग करते हैं।

श्री वसुबिन्दु आचार्य—जो कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शिष्य थे और जिनका दूसरा नाम जयसेन था—प्रतिष्ठा-पाठ में कहते हैं कि—जिसे अपनी लक्ष्मी धार्मिक कार्यों में व्यय करने की भावना जागृत हुई है—ऐसा श्रावक किसी मुनि या प्रतिष्ठाचार्य के पास जाकर विनयपूर्वक वंदन करके कहता है कि—"हे अकारण बाँधव! पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से मैंने ऐसा सुन्दर कुल, शुभ गोत्र, आर्य देश तथा मनुष्य भव और जिनधर्म प्राप्त किया है। मेरे पिता ने न्यायपूर्वक प्राप्त किया हुआ धन मुझे दिया है और मैंने भी धनोपार्जन किया है; उसमें से मैं कुछ धन अपने आत्महित के लिये, स्त्री-पुत्र-मित्रादि की सम्मतिपूर्वक सत्कार्य में व्यय करना चाहता हूँ। हे स्वामी! मैं इस लक्ष्मी को कुलटा स्त्री के समान मानता हूँ। अरे! चक्रवर्ती की सम्पदा भी जब स्थिर नहीं है, तब मेरी सम्पदा की क्या बात? इसलिये हे स्वामी! इस लक्ष्मी द्वारा श्री जिनेन्द्रदेव का पंचकल्याणक-महोत्सव रचाने की मेरी अभिलाषा है..... स्वर्ग-मोक्ष के कारणरूप जिनबिम्ब की मैं स्थापना करना चाहता हूँ.... इसलिये हे स्वामी! मुझे आज्ञा दो।"

तब श्रीगुरु भी जिनेश्वरदेव की प्रतिष्ठा के उत्तम कार्य की प्रशंसापूर्वक उसे धन्यवाद देते हैं।

—यहाँ ऐसा बतलाना है कि जिसे चैतन्य का लक्ष हो और लक्ष्मी आदि को अनित्य जानता हो, उसे इसप्रकार धर्म प्रसंग में लक्ष्मी व्यय करने का उल्लास आता है।

अहा, इस अनित्य भावना का मूल गहरा है। मात्र अनित्यता के आधार से अनित्य भावना नहीं होती, किन्तु ध्रुव चैतन्यस्वभाव के आधार से ही सच्ची अनित्य भावना होती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे! यह धन, यौवन और जीवन-यह सब पानी के बुदबुदे की भाँति क्षणिक हैं—ऐसा दिखने पर भी जीव उसे नित्य मान रहे हैं। यह सचमुच उनके मोह की अधिकता है। धन चला जाता है, यौवन भी चला जाता है और वृद्धावस्था आ जाती है; तथा जीवन भी क्षणमात्र में चला जाता है; बीस-पच्चीस वर्ष की यौवनावस्था में भी अनेकों जीवन पूरे हो जाते हैं;—इसप्रकार प्रत्यक्षरूप से धन-यौवन और जीवन को क्षणभंगुर देखने पर भी मोह के कारण जीव उसे नित्य मानकर उसी में मोहित हो रहा है और अपने चिदानन्द तत्त्व को भूल रहा है—यह खेद की बात है। ऐसे जीवों को वैराग्य से समझाते हैं कि अरे जीवों! यह धन, यौवन या जीवन क्षणभंगुर है, यह कोई जीव के साथ नहीं रहेंगे; पानी के बुदबुदे की भाँति क्षणमात्र में ही नष्ट हो जायेंगे; इसलिये उनका मोह छोड़ो और अविनाशी चैतन्यपद में प्रीति लगाकर उसकी भावना करो।—यही दु:खमय संसार से छूटकर आनन्द प्राप्ति का उपाय है।

प्रात:काल जिसे राजसिंहासन पर देखा हो, वही सायंकाल स्मशान में भस्म होते दिखाई देता है,—ऐसे प्रसंग तो संसार में अनेक दिखाई देते हैं, तथापि मोहमूढ़ जीवों को वैराग्य नहीं आता। अरे भाई! संसार को अनित्य जानकर तू अन्तरोमुख हो... एकबार अपने आत्मा की ओर देख... अनन्तकाल तक बाह्यभाव करने पर भी शांति प्राप्त नहीं हुई, इसलिये अब तो अन्तरमुख हो। यह संसार या संसार के संयोग स्वप्न में भी इच्छनीय नहीं हैं; अन्तर का एक चिदानन्द तत्त्व ही भावना करने योग्य है। अपने चैतन्यतत्त्व की नित्यरूप से और लक्ष्मी आदि संयोगों की अनित्यरूप से भावना कर—अर्थात् उनकी अनित्यता का चिंतवन कर। जिसे अनित्य जानेगा, उसका मोह कैसे रहेगा? नहीं रह सकता। इसलिये लक्ष्मी आदि को जो वास्तव में अनित्य जानता है, उसे उसका मोह छूटकर अन्तर में नित्य चिदानन्द तत्त्व की ओर उन्मुखता होती है और उसी में लीनता की भावना होती है।

—यही उपदेश इस अनित्य अधिकार की अन्तिम गाथा में देते हैं—

त्यक्त्वा महामोहं विषयान् श्रृत्वा भंगुरान् सर्वान्।
निर्विषयं कुरुष्व मन: येन सुखं उत्तमं लभते॥२२॥

हे जीव! संसार में धन, यौवन या जीवन आदि सब क्षणभंगुर हैं;—ऐसा सुनकर उन विषयों के प्रति महामोह को तू छोड़ और अपने चित्त को निर्विषय करके चैतन्य की भावना में युक्त कर; ऐसा करने से तू उत्तम सुख को प्राप्त करेगा। हमारा यह वैराग्यपूरित उपदेश सुनकर हे जीव! अनादि से जिनकी प्रीति की है—ऐसे विषयों की प्रीति छोड़, और अनादि से जिसकी प्रीति नहीं की—ऐसे चैतन्यतत्त्व के साथ प्रीति जोड़! चैतन्यस्वभाव की भावना से तेरा आत्मा परम सुखमय बनेगा, तुझे परमानन्दमय अविनाशी सिद्धपद की प्राप्ति होगी।

नृत्य करती हुई नीलांजना देवी की मृत्यु देखकर जो समस्त संसार से अत्यन्त विरक्त हुए..... और चिदानन्दस्वभाव में मग्न हुए.... ऐसे परम वैरागी श्री आदिनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार हो!

वीरशासन जयन्ती महोत्सव

और

भगवान की दिव्यध्वनि के अच्छिन्न प्रवाह

वैशाख शुक्ला १० वीं के दिन भगवान महावीर स्वामी को केवलज्ञान हो गया है... इन्द्रों द्वारा समवशरण की रचना हो गई है... भव्य जीवों के समूह भगवान के समवशरण में आ गये हैं और दिव्यध्वनि का उपदेश सुनने को आतुर हो रहे हैं.... किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरती.... छियासठ दिन यों ही बीत गये हैं किन्तु अभी वाणी नहीं खिरी.... अब तो भगवान की दिव्यवाणी का श्रवण करने के लिये भव्यजीव अत्यन्त आतुर हो रहे हैं....

छियासठवाँ दिन भी बीत गया... आषाढ़ मास पूर्ण होकर श्रावण का प्रथम दिन आया... अनादि नियम के अनुसार शासन का नूतन वर्ष प्रारम्भ हुआ... उसी दिन भगवान की दिव्यध्वनि

प्रवाहित हुई... सहज ॐ ध्वनि छूटी.... वीरशासन का प्रवर्तन हुआ... चार तीर्थों की स्थापना हुई... गणधरपद की स्थापना हुई तथा बारह अंगरूप श्रुत की रचना हुई....

जिसप्रकार श्रावण मास में वर्षा होने पर सरिताओं के सूखे हुए प्रवाह उमड़कर बहने लगते हैं और जीवों का आतप शांत होता है... उसीप्रकार भगवान महावीर स्वामी के श्रीमुख से दिव्यध्वनि की वर्षा होने पर मोक्षमार्गरूपी सरिता में बाढ़ आ गई.... और मोक्षमार्ग उमड़कर बहने लगा। कोई परम भाग्यवन्त उस प्रवाह में निमग्न होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए, कोई गणधर हुए तो किसी ने मुनिदशा प्रगट की... और किसी ने अनादि मिथ्यात्वमल को उसमें धो डाला।—इसप्रकार भगवान महावीर के श्रीमुख से बहती हुई उस सरिता ने संसाररूपी आतप से क्लान्त अनेक जीवों को शीतलता प्रदान की।

वह अमृत-सरिता इतने से ही न रुकी.... प्रथम तो वह श्री गौतमस्वामी के हृदय सरोवर में आई और उसे छलका कर आगे बढ़ी... मोहरूपी पर्वत को भेदकर अनेक संत-मुनियों के हृदयकुण्ड को श्रुतामृत से छलकाती हुई आगे बढ़ी... आगे बढ़कर उस सरिता ने श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव के हृदयकुण्ड में प्रवेश किया... वहीं एक और महान सरिता का प्रवाह उनके हृदयकुण्ड में आ मिला। अहोभाग्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का, कि उनके महापवित्र हृदयकुण्ड में दो अमृत-सरिताओं का संगम हुआ—एक तो वीर वर्द्धमान के मुख से प्रवाहित और दूसरी विदेहवासी श्री सीमंधर स्वामी के श्रीमुख से बही हुई! जिसप्रकार केवलज्ञान और तीर्थंकर पदवी के संगम से अरिहंतदशा शोभायमान हो उठती है; उसी प्रकार दो तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के प्रवाह का संगमस्थल होने से श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का हृदय शोभा देता था... कुन्दकुन्द प्रभु ने समय-प्राभृतादि शास्त्रों की रचना द्वारा उस प्रवाह को वेगवंत बनाया।

वहाँ से आगे बढ़कर वह निर्मल प्रवाह श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव आदि संतों के हृदय से निकलकर अनेक आत्मार्थियों के हृदय को पावन करता हुआ पूज्य श्री कहान गुरुदेव (श्री कानजी स्वामी) के हृदय-सरोवर में प्रविष्ट हुआ। आज तो उनके हृदय-सरोवर से वीरवाणी का वह प्रवाह उमड़ता हुआ आगे बढ़ रहा है। श्री कुन्दकुन्द भगवान द्वारा समय प्राभृत आदि शास्त्रों में भरे हुए प्रवाह को पूज्य श्री कानजीस्वामी उँडेल रहे हैं। इसप्रकार महावीर भगवान के श्रीमुख से प्रवाहित वह दिव्यप्रवाह आज पुनः वेगवान हुआ है। अभी तक अनेक आत्मार्थी जीवों के हृदय में वह प्रवाह पहुँच गया है और उन्हें पावन कर देगा। आगे बढ़कर वह समस्त भारत को पुनः

अध्यात्मकल्पद्रुमों से हरियाला बना देगा... इतना ही नहीं, किन्तु भविष्य में हजारों वर्ष तक आत्मार्थी जीव उसका पान करते रहेंगे....

—इसप्रकार हे भगवान! आपका अधमोद्धारक कल्याणकारी पवित्र शासन आज अच्छिन्नरूप से वर्त रहा है और आपके दिव्यध्वनि प्रवाह द्वारा, तथा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने श्री सीमंधर भगवान से जो दिव्य-प्रवाह प्राप्त किया था, उसके द्वारा आज भी हमारा आत्मा पावन हो रहा है। नमस्कार हो आपकी दिव्यध्वनि को और उस दिव्यध्वनि के प्रवाह को अच्छिन्नरूप से प्रवाहित रखनेवालें संतों को.....

श्री जैन धर्म शिक्षण-वर्ग

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस साल प्रौढ़ों / विद्यार्थियों के लिये ता० ९-८-५९ से तारीख २८-८-५९ तक जैन धर्म शिक्षण-वर्ग चलेगा। उनका लाभ लेने के इच्छुक जैन जिज्ञासुओं को आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के दि० जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों के रहस्यमय व्याख्यानों का लाभ भी मिलेगा। आनेवाले जिज्ञासुओं के लिये ठहरने की और भोजन की सुविधा ट्रस्ट के खर्च से होगी। इस वर्ग में सम्मिलित होने के इच्छुक भाई अपने आने की सूचना भेजकर समय पर उपस्थित हो जावें।

नीचे के पते पर पत्र देना

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपादस्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परमपूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म
भरपूर, वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

****

'आत्मधर्म' के अनेक जिज्ञासु पाठकों की ओर से सरल लेखों की माँग आने पर यह लेखमाला प्रारम्भ की गई है। यह प्रवचन अध्यात्मरस से भरपूर होने पर भी सरलता से समझे जा सकें ऐसे हैं; इसीकारण पाठकों को यह लेखमाला विशेष-पसन्द आई है।

इस 'समाधिशतक' के रचयिता श्री पूज्यपादस्वामी एक महान दिगम्बर संत थे, जो आज से लगभग १४०० वर्ष पहले हो चुके हैं। उनका दूसरा नाम देवनन्दि था; वे विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे, ऐसा भी उल्लेख शिलालेखों में पाया जाता है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका तथा 'जैनेन्द्र व्याकरण' आदि महान ग्रन्थों की रचना की है। उनकी अगाध बुद्धि के कारण योगियों ने उन्हें 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है।—ऐसे महान आचार्य द्वारा रचित 'समाधिशतक' के यह प्रवचन हैं।

****

(वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला १२)

[समाधिशतक गाथा—२२]

अज्ञानदशा में तो देह को ही आत्मा मानकर भ्रम से व्यर्थ चेष्टाएँ की; किन्तु अब देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान होने पर ज्ञानी की चेष्टा कैसी हो जाती है, सो बतलाते हैं:—

यथाऽसौ चेष्टत स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥२२॥

ज्ञानी जानते हैं कि—वृक्ष के ठूँठ को पुरुष मानकर व्यर्थ चेष्टा करनेवाले उस मनुष्य को जब खबर पड़ती है कि अरे, यह तो पुरुष नहीं किन्तु वृक्ष का ठूँठ है,—तब उसके साथ उपकार,

वार्तालाप आदि छोड़ देने की चेष्टा करता है; उसीप्रकार मैंने अज्ञानदशा में तो देह को ही आत्मा मानकर व्यर्थ चेष्टाएँ की और मैं दु:खी हुआ; किन्तु अब मुझे भान हुआ कि अरे! यह शरीर तो जड़ है; वह मेरा उपकारी या अपकारी नहीं है, वह मुझसे भिन्न है; मैं तो अरूपी चिदानन्द आत्मा हूँ।—ऐसा भान होने पर, शरीर की चेष्टाओं के प्रति अब मुझे उदसीनता हो गई है; अर्थात् शरीर की चेष्टाएँ मेरी हैं—ऐसा अब मुझे किंचित् भासित नहीं होता; शरीर की चेष्टा द्वारा मेरा कुछ सुधरता या बिगड़ता है—ऐसी भ्रमणा अब छूट गई है।

मैं इन देहादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूँ—ऐसा जहाँ स्व-संवेदन से सम्यक्भान हुआ, वहाँ धर्मात्मा जानते हैं कि अरे! अभी तक तो पत्थर में पुरुष की भ्रान्ति की भाँति इस अचेतन शरीर को ही मैंने आत्मा माना और उसके साथ व्यर्थ चेष्टाएँ की। जिसप्रकार अंधकार के कारण कोई पुरुष, पत्थर या वृक्ष के ठूँठ को पुरुष मानकर उसे बुलाये, उससे प्रेम करे, उसके साथ लड़े, लड़ते-लड़ते जब वह ठूँठ ऊपर गिरे, तब समझे कि अब इसने मुझे दबा दिया; और कहे कि—अरे भाई! अब तो उठ... ऐसी अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करे, किन्तु ज्यों ही प्रकाश हुआ, वहाँ दिखाई देता है कि अरे, यह तो पुरुष नहीं किन्तु पत्थर है—ठूँठ है; मैंने भ्रान्तिवश व्यर्थ ही चेष्टाएँ की... उसीप्रकार अज्ञानरूपी अंधकार के कारण अज्ञानी जीव, अचेतन शरीरादि को ही आत्मा मानकर उससे प्रीति करता था, बाह्य विषयों को अपना इष्ट-अनिष्टकारी मानकर उनके प्रति राग-द्वेष करता था; मैं खाता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ—ऐसा मानकर अनेक प्रकार से भ्रान्तिपूर्ण चेष्टाएँ करता था, किन्तु अब जहाँ ज्ञान का प्रकाश हुआ... और स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को देह से भिन्न जाना, वहाँ धर्मी जानता है कि अरे! यह शरीर तो अचेतन है, यह मैं नहीं हूँ; तथापि इसी को आत्मा मानकर मैंने अभी तक व्यर्थ चेष्टाएँ कीं, किन्तु अब मेरी भ्रान्ति दूर हो गई है। अज्ञानी तो जड़-इन्द्रियों को अपनी मानकर उन्हीं का दास हो रहा है। कान-आँख आदि इन्द्रियाँ अच्छी हों तो मैं शब्द का श्रवण, रूप का अवलोकन अच्छी तरह कर सकता हूँ—ऐसा मानकर अज्ञानी, इन्द्रिय-विषयों में ही राग-द्वेष करके उनका दास होकर वर्तता है। मेरा आत्मा स्वयं ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। इन्द्रियों से पार ऐसे सम्यक् भान में धर्मी जितेन्द्रिय वर्तता है; वह जानता है कि मेरा ज्ञान या आनन्द इन्द्रिय विषयों में नहीं है; मैं स्वयं ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ;—इसलिये उसे बाह्य विषयों में आत्मबुद्धि नहीं होती।

यह आत्मा ही शरीर है—ऐसा भले ही सीधे ढंग से न कहता हो, किन्तु जो बाह्य विषयों से

ज्ञान और आनन्द होना मानता है, वह जीव, शरीर को ही आत्मा मानता है; वह अपने को शरीररूप ही मानता है। जीव जिससे अपने को ज्ञान और सुख होना मानता है, उसे आत्मा ही मानता है। जो इन्द्रियों से या पर से ज्ञानानन्द का होना मानता है, वह जड़ को ही आत्मा मानकर उसके दासरूप से वर्तता है। धर्मी जानता है कि मैंने भी पूर्व अज्ञानदशा में भ्रम से देह को ही आत्मा मानकर चेष्टाएँ की हैं... किन्तु अब भान हुआ कि यह शरीर तो मुझसे अत्यन्त पृथक् अचेतन है; जिसप्रकार लकड़ी का स्तंभ मुझसे पृथक् है, उसीप्रकार यह शरीर भी मुझसे पृथक् है। मैं तो अरूपी चैतन्यस्वरूपी स्वसंवेद्य हूँ; शरीर से मेरी जाति ही भिन्न है। शरीर रूपी, मैं अरूपी; शरीर जड़ मैं चेतन; शरीर संयोगी, मैं असंयोगी; शरीर विनाशी, मैं अविनाशी; शरीर अंध, मैं सूझता; शरीर इन्द्रिय ग्राह्य, मैं अतीन्द्रिय-स्वसंवेदनग्राह्य; शरीर मुझसे बाह्य परतत्त्व, और मैं अंतरंग चैतन्यमूर्ति स्वतत्त्व—इसप्रकार शरीर की और मेरी अत्यन्त भिन्नता है।

—ऐसे अत्यन्त भिन्नता के विवेक से जहाँ भेदज्ञान हुआ और यथार्थ तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम दूर हो गया; शरीर के सुधरने-बिगड़ने से मेरा कुछ सुधरता या बिगड़ता है—ऐसा भ्रम छूट गया और देहादि परद्रव्यों से उपेक्षित होकर चिदानन्दस्वभाव की ओर ढला... इसका नाम समाधि है। भिन्न आत्मतत्त्व के चिंतन बिना समाधि होती ही नहीं। परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न जाने बिना उनसे उपेक्षा नहीं होती। परद्रव्यों से उपेक्षा के बिना स्वतत्त्व में एकाग्रता कैसी? और स्वतत्त्व में एकाग्रता के बिना समाधि कैसी? समाधि के बिना सुख या शान्ति कैसे? इसलिये सर्व प्रथम भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा देहादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानना ही समाधि का मूल है ॥२२॥

* * *

अब, 'मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं नपुंसक'—इसप्रकार बाह्यलिंग में आत्मा की भ्रमणा तथा 'मैं एक, मैं दो'—इत्यादि संख्या में आत्मा की भ्रमणा—उसे दूर करने के लिये, लिंग और संख्या से पृथक् असाधारण आत्मस्वरूप बतलाते हैं—

येनात्मनाऽनुभुयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा द्वारा, आत्मा को अनन्यरूप से आत्मा के स्वसंवेदन से आत्मा के स्वरूप में मैं अनुभवता हूँ, वही मैं हूँ; इसके अलावा स्त्री-पुरुष आदि चिह्न अथवा एक-दो आदि

संख्या के विकल्प, वह मैं नहीं हूँ। स्वसंवेदनगम्य चैतन्य ही मेरा चिह्न है।

स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि चिह्नों द्वारा तो शरीर पहिचाना जाता है, किन्तु उन चिह्नों द्वारा कहीं आत्मा नहीं पहिचाना जाता। व्याकरण के वचन और विभक्तियाँ अरूपी आत्मा का स्पर्श नहीं करते, अर्थात् भाषा के शब्दों से गम्य हो, ऐसा आत्मा नहीं है; आत्मा तो स्वयं अपने से ही स्वसंवेदन गम्य है।—ऐसे आत्मा को जो जानता है, उसी को समाधि-सुख-शांति अथवा धर्म होता है। *[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला १२]*

समाधि के लिये देहादि से भिन्न स्वसंवेदन ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा की भावना का वर्णन चल रहा है। पुरुषत्व-स्त्रीत्व आदि शरीर के आकार, सो मैं नहीं हूँ; तथा तत्सम्बन्धी विकार भी उपाधिभाव है, वह मेरे स्वसंवेद्य आत्मा से बाह्य है। पुनश्च, मैं एक हूँ, अनेक हूँ—इत्यादि विकल्पों से भी मैं पार हूँ; बाह्यलिंग और संख्या के भेदों से पार ज्ञानानन्दस्वरूप ही मैं हूँ। शरीर आधेय और मैं उसका आधार, अथवा मैं आधेय और शरीर मेरा आधार—ऐसा आधार-आधेयपना तो मुझे नहीं है; तथा ज्ञानादि गुण आधार और आत्मा आधेय—ऐसा आधार-आधेय का भेद भी मेरे एकाकारस्वरूप में नहीं है; आधार-आधेय के भेद द्वारा अनुभव में आऊँ—ऐसा मैं नहीं हूँ; मैं तो भेद के विकल्परहित निर्विकल्प स्वसंवेदनगम्य हूँ—इसप्रकार धर्मी अपने आत्मा की भावना करता है ॥२३॥

अब, ज्ञानी से कोई पूछे कि—आप जिस आत्मा का अनुभव करते हैं, वह कैसा है ?—आप कैसे आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं ?—ऐसा पूछने पर ज्ञानी कहते हैं कि—

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्य तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

जिसके अभाव में मैं सुषुप्त था, अर्थात् जिस शुद्धात्मा के संवेदन की उपलब्धि बिना अज्ञानरूपी घोर निद्रा से मैं घिरा था, मेरे ज्ञानचक्षु मुँद गये थे और अब जिसके सद्भाव से मैं जागृत हुआ, जिस शुद्धात्मा के संवेदन की उपलब्धि होने से मेरे ज्ञानचक्षु खुल गये, तथा जो इन्द्रियों और विकल्पों से अगोचर, अतीन्द्रिय है—ऐसा स्वसंवेद्य मैं हूँ। ऐसे स्वसंवेद्य आत्मा का ही मैं अनुभव करता हूँ। इसके अतिरिक्त देहादि कोई परद्रव्य मुझे अपनेरूप से किंचित् भासित नहीं होते।

जब मैं अपने आत्मा को नहीं जानता था, तब यथार्थ तत्त्वों के ज्ञान का मुझे अभाव था; किन्हीं तत्त्वों के स्वरूप को मैं यथार्थ नहीं जानता था और गाढ़ मोह की निद्रा में सोता था। किन्तु

अब शुद्ध चैतन्यतत्त्व का भान होने पर मैं जागृत हुआ और समस्त तत्त्वों के यथावत् स्वरूप को जाननेरूप से परिणमित हुआ।—ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व मैं हूँ कि जिसके अभान से मैं सुप्त था और अब जिसके भान से जागृत हुआ। कैसा है मेरा स्वरूप? अतीन्द्रिय है और वचन के विकल्पों से अगोचर है; मात्र स्वसंवेदनगम्य है। व्यवहार के विकल्पों से या राग से ग्रहण हो—ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो अंतर के स्वसंवेदन द्वारा ही अनुभव में आता है। ऐसा स्वसंवेद्य तत्त्व मैं हूँ।

'जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जमि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे॥'

'मोक्षप्राभृत' की इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव, व्यवहार में सोते हैं, वे अपने आत्मकार्य में जागृत हैं, जो व्यवहार में जागृत हैं, वे अपने आत्मकार्य के लिये सोते हैं। व्यवहार का आश्रय करके लाभ माननेवाला जीव अज्ञानी है, वह शुद्ध आत्मा को नहीं जानता तथा अन्य तत्त्वों के स्वरूप को भी वह नहीं जानता; इसलिये वह मोहनिद्रा में सोता है। ज्ञानी तो अपने चिदानन्दस्वरूप को देहादि तथा रागादि से भिन्न जानकर उसकी भावना में जागृत हैं और व्यवहार में अजागृत हैं, अर्थात् उनका रागादि के ओर का उत्साह टूट गया है... चैतन्यस्वरूप में ही उत्साह वर्तता है।

धर्मी कहता है कि अरे! अभी तक अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर, मैं अज्ञानरूपी निद्रा में असावधानरूप से सोता था... किन्तु अब चैतन्यस्वरूप को जानकर मैं जागृत और सावधान हुआ; मैंने अपने स्वरूप को इन्द्रियों से पार जाना; राग से पार जाना; सिद्ध जैसे अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दस्वरूप अपने आत्मस्वरूप को मैंने स्वसंवेदन से जाना... इसलिये अब मैं जागृत हूँ।

देखो, धर्मी सदैव जागृत हैं और अज्ञानी तो सदैव असावधानी से सोता है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूँ—ऐसी आत्मजागृति धर्मी को क्षणमात्र भी नहीं हटती; निद्रा-काल में भी ऐसी जागृति-प्रतीति नहीं छूटती; इसलिये वह जागृत ही है। और मिथ्यादृष्टि को चैतन्यस्वरूप में उत्साहरूप जागृति नहीं है; आत्मा को भूलकर वह तो सोता ही है; जागता हो, शास्त्रस्वाध्याय करता हो, भक्ति करता हो, तथापि चिदानन्दस्वरूप की जागृति के बिना वह सोता ही है।

कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'अज्ञानी का निद्राधीन होना ही अच्छा है; क्योंकि निद्रा में पाप नहीं होता';—तो वह बात बिलकुल झूठी है। निद्रा के समय भी अज्ञानी को मिथ्यात्वादि पापों का सेवन वर्तता ही रहता है; और ज्ञानी को निद्रा के समय भी चैतन्यस्वरूप की प्रतीतिरूप जागृति वर्तती ही रहती है; इसलिये यहाँ तो एक ही नियम बतलाया है कि जिसे शुद्धचैतन्य की उपलब्धि

है, वह जाग रहा है और जिसे शुद्धचैतन्य की उपलब्धि नहीं है, वह सो रहा है। 'मैं कौन हूँ'—उसका मुझे अज्ञानदशा में भान नहीं था; मैं बेभान था; अब अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप का भान होने पर मैं जागृत हुआ और स्वसंवेद्य अतीन्द्रिय चैतन्य तत्त्व का ही मैंने अपनेरूप से अनुभव किया।—इसप्रकार धर्मी अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करता है।

जिसप्रकार निद्राधीन मनुष्य को आसपास का भान नहीं रहता; उसीप्रकार देह में आत्मबुद्धि करके मोहनिद्रा में सोते हुए प्राणियों को स्व-पर का कुछ भी भान नहीं है। संत, स्व-पर का भेदज्ञान कराके उसकी मोहनिद्रा छुड़वाते हैं और उसे जागृत करते हैं कि अरे जीव! तू जाग... जाग! जागृत होकर अपने चैतन्यपद को देख! तू पर में जागृति करके अपने चैतन्यपद को भूल रहा है, इसलिये अज्ञान-निशा में सो रहा है; अब उससे जागृत हो! अर्धरात्रि के समय जगत के प्राणी निद्राधीन होते हैं, किन्तु संत-मुनिवर तो उससमय भी चैतन्य के ध्यान की मस्ती में जागते रहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि जबसे चिदानन्दस्वभाव का स्व-संवेदन हुआ, तभी से आत्मा जागृत हुआ है। अज्ञानी तो रागादि व्यवहार में ही जागृत हैं, अर्थात् राग में ही उत्साहित हैं, जबकि ज्ञानी, राग में उत्साहहीन हैं।—इसप्रकार जिस व्यवहार में अज्ञानी जागृत हैं, उसमें ज्ञानी सोते हैं, अर्थात् वह उन्हें आदरणीय नहीं हैं; और ज्ञानी अपने जिस चैतन्यतत्त्व के स्वसंवेदन में जागृत हैं, उसमें अज्ञानी सोते हैं-भानरहित हैं; उनके ज्ञानचक्षु मुँद गये हैं।

जहाँ अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वहाँ धर्मी के चैतन्यचक्षु खुल गये। अनादिकालीन अज्ञाननिद्रा उड़ गई। वे कहते हैं कि अहा! हमने अपने ऐसे तत्त्व को अभी तक कभी नहीं जाना था, किन्तु अब स्वसंवेदन से अपने आत्मतत्त्व को जान लिया है... अब मैं जागृत हुआ हूँ ॥२४॥ ●

भूल सुधार

''आत्मधर्म'' हिन्दी अंक १७० में पृष्ठ ६६ पर ''मूडबिद्री में रत्नप्रतिमा दर्शन'' शीर्षक लेख में अंतिम वाक्य ''यहाँ भी करीब दस हजार का दान हुआ'' ऐसा भूल से छप गया है। इस भूल के लिये खेद है। वहाँ करीब तीन हजार का दान हुआ है। अतः पाठकगण भूल सुधार लें।

—प्रकाशक

जिनशासन का हार्द

जिनशासन में किसी भी प्रकार से किसी भी पक्ष से बात लो, किन्तु उसका सार तो पराश्रित परिणमन छोड़कर अंतर के ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर ढलना ही है; क्योंकि पराश्रित परिणमन, वह संसार का और स्वभावोन्मुख-स्वाश्रित परिणमन, वह मोक्ष का कारण है।

किसी भी संयोग में, क्षेत्र में या काल में जो जीव स्वयं निश्चयस्वभाव का आश्रय करके परिणमित होता है, वही जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष प्राप्त करता है। जो जीव शुद्ध स्वभाव का आश्रय नहीं करता और पराश्रित ऐसे व्यवहार का आश्रय करता है, वह जीव किसी भी संयोग में, क्षेत्र में या काल में सम्यग्दर्शनादि को प्राप्त नहीं कर पाता।

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यात्तत्त्यागाद्बंध एव हि॥१२२॥

यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके अत्याग से बंध नहीं होता और त्याग से बंध ही होता है।

सच्चे सुख के लिये सीधा मार्ग (-यथार्थ उपाय)

प्रकाशनेवाले

तत्त्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१. सम्यग्दर्शन—(-दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है, इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैन धर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई है। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६, मूल्य १.६३।

२. लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाईड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५ मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३. श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह—

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्रायः सब जैन तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना-आना इत्यादि वर्णन तथा क्षेत्रों का परिचय होने से पुस्तक अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

४. जैन सिद्धांत प्रनोत्तरमाला भाग १-२-३

जिसमें सर्वोत्तम शैली से शास्त्राधार सहित तत्त्वार्थों के विषय में ऐसा समाधान दिया है कि शास्त्रों का अर्थ नहीं समझनेवालों का भी सच्चा निःशंक समाधान हो सकता है और सभी को उपयोग में आने योग्य है। पृ० सं० तीनों भाग की ४००, मूल्य प्रत्येक का ०.५६।

५. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव—

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तु स्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्त गर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म - ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त है।

३- अनेकान्त, निमित्त उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४- द्रव्य-पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ।

६- वस्तुविज्ञान अंक जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो—इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर खास प्रवचनों का सार-[जिसमें नियतनय, और अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है। बढ़िया जिल्द, सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे। ५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।]

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह

यानी

पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज, सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है, पोस्टेजादि अलग (पृ० सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें० देंगे।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	समयसार पद्यानुवाद	।)
प्रवचनसार	५)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
अष्टपाहुड़	३)	स्तोत्रत्रयी	॥)
चिद्विलास	१=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
आत्मावलोकन	१)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग	२)	शासन प्रभाव	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)		
द्वितीय भाग	॥–)		
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।